सामाजिक विज्ञान

हमारे अतीत – III

भाग – 1

कक्षा 8 के लिए
इतिहास की पाठ्यपुस्तक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

2015-16 (12-01-15)

प्रथम संस्करण
अप्रैल 2008 वैसाख 1930

पुनर्मुद्रण
फरवरी 2009 माघ 1930
जनवरी 2010 माघ 1931
नवंबर 2010 कार्तिक 1932
अप्रैल 2013 चैत्र 1935
जनवरी 2014 पौष 1935
दिसंबर 2014 पौष 1936

PD 50T RPS

₹ 50.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा सालासर इमेजिंग सिस्टम, बी-69, लॉरेंस रोड इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली 110 035 द्वारा मुद्रित।

ISBN 978-81-7450-834-8

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *एन. के. गुप्ता*
मुख्य उत्पादन अधिकारी : *कल्याण बनर्जी*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *गौतम गांगुली*
उत्पादन सहायक : *सुनील कुमार*

आवरण एवं सज्जा
आर्ट क्रिएशन्स

कार्टोग्राफी
कार्टोग्राफिक डिज़ाइन एजेंसी

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक विद्यालय और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि विद्यालयों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और सीखने के दौरान अपने अनुभवों पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गयी सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितनी वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक विद्यालय में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की रचना के लिए बनायी गयी पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और इस पाठ्यपुस्तक समिति की मुख्य सलाहकार विभा पार्थसारथी की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के विकास में कयी शिक्षकों ने योगदान किया, इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं।

व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नयी दिल्ली
30 नवंबर 2007

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रो.फ़ेसर*, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सदस्य

अर्चना प्रसाद, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, जवाहरलाल नेहरू अध्ययन केंद्र, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली

अंजलि खुल्लर, *पीजीटी* (इतिहास) केम्ब्रिज स्कूल, नयी दिल्ली

अनिल सेठी, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

जानकी नायर, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

तनिका सरकार, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

ताप्ती गुहा-ठाकुरता, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

प्रभु मॉहापात्रा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रामचन्द्र गुहा, *स्वतंत्र लेखक*, मानवशास्त्री एवं इतिहासकार, बेंगलुरु

रश्मि पालीवाल, एकलव्य, होशंगाबाद, मध्य प्रदेश

संजय शर्मा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सतविन्दर कौर, *पीजीटी* (इतिहास), केंद्रीय विद्यालय संख्या 1, जालंधर, पंजाब

स्मिता सहाय भट्टाचार्य, *पीजीटी* (इतिहास), ब्ल्यूबेल्स स्कूल, नयी दिल्ली

एम. सिराज अनवर, *प्रोफ़ेसर*, पीपीएमईडी, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

योगेंद्र दत्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली

रीतू सिंह, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर* (इतिहास), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

सिराज अनवर, *प्रोफ़ेसर*, पीपीएमईडी, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

रीतू सिंह, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर* (इतिहास), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

आभार

यह पुस्तक बहुत सारे इतिहासकारों, शिक्षाविदों और शिक्षकों की सामूहिक कोशिशों का फल है। इन अध्यायों के लेखन और संशोधन में कई माह लगे हैं। ये अध्याय कार्यशालाओं में हुई चर्चाओं और ई-मेल पर हुए विचारों के आदान-प्रदान से उपजे हैं। इस प्रक्रिया में प्रत्येक सदस्य ने प्रकारांतर से अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान दिया है।

बहुत सारे व्यक्तियों और संस्थानों ने इस किताब को तैयार करने में मदद दी। प्रोफ़ेसर मुज़फ़्फ़र आलम और डॉ. कुमकुम रॉय ने इसके मसविदे पढ़े और बदलाव के लिए कई अहम सुझाव दिए। किताब में दिए गए चित्रों के लिए हमने कई संस्थाओं के संग्रहों का इस्तेमाल किया। दिल्ली शहर और 1857 की घटनाओं के बहुत सारे चित्र अल्काज़ी फ़ाउंडेशन फ़ॉर दि आर्ट्स से लिए गए हैं। ब्रिटिश राज के बारे में लिखी गयी उन्नीसवीं सदी की बहुत सारी सचित्र पुस्तकें इंडिया इंटरनैशनल सेंटर के बहुमूल्य इंडिया कलेक्शन का हिस्सा थीं। हम सुनील जाना साहब के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने नब्बे साल की उम्र पार करने के बाद भी अपने चित्रों को छाँटने में मदद और उन्हें पुनः प्रकाशित करने की अनुमति दी। चालीस के दशक की शुरुआत से ही वह आदिवासी क्षेत्रों की पड़ताल कर रहे हैं और उन्होंने असंख्य समुदायों के दैनिक जीवन को अपने कैमरे में दर्ज किया है। इनमें से कुछ चित्र अब प्रकाशित हो चुके हैं (द ट्राइबल्स ऑफ़ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003) तथा बहुत सारे चित्र इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में सुरक्षित हैं।

परिषद् पाठ्यपुस्तक के निर्माण में उल्लेखनीय सहयोग देने हेतु अनिल शर्मा, *इन्द्र कुमार, डी.टी.पी. ऑपरेटर;* सतीश झा, *कॉपी एडिटर* तथा दिनेश कुमार, *कंप्यूटर स्टेशन इंचार्ज* का भी हार्दिक आभार व्यक्त करती है। इसी संदर्भ में प्रकाशन विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. का सहयोग भी प्रशंसनीय है।

यहाँ हमने सभी के आभारज्ञापन का प्रयास किया है लेकिन अगर किसी व्यक्ति या संस्था का नाम छूट गया है तो इस भूल के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

श्रेय

व्यक्ति

सुनील जाना (अध्याय 4, चित्र 4, 8, 9, 10)

संस्थाएँ

दि अल्काज़ी फाउंडेशन फ़ॉर दि आर्ट्स (अध्याय 5, चित्र 11, अध्याय 6, चित्र 3, 7)

विक्टोरिया मेमोरियल म्यूज़ियम (अध्याय 5, चित्र 1)

पुस्तकें

एंड्रियास वोल्वासेन, *इम्पीरियल डेल्ही : द ब्रिटिश कैपिटल ऑफ़ दि इंडियन एम्पायर* (अध्याय 1, चित्र 4; अध्याय 6, चित्र 9, 10, 16)

सी. ए. बेली, सं., *एन इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया, 1600-1947* (अध्याय 1, चित्र 1; अध्याय 2, चित्र 5, 12; अध्याय 3, चित्र 1)

कोल्सवर्दी ग्रांट, *रूरल लाइफ़ इन बंगाल* (अध्याय 3, चित्र 8, 9, 11, 12, 13)

कॉलिन कैम्पबेल, *नैरेटिव ऑफ़ दि इंडियन रिवोल्ट फ़्रॉम इट्स आउटब्रेक टू द कैप्चर ऑफ़ लखनऊ* (अध्याय 5, चित्र 3, 5, 6, 7, 8)

गौतम भद्र, *फ़्रॉम एन इम्पीरियल प्रॉडक्ट टू ए नैशनल ड्रिंक : द कल्चर ऑफ़ टी कंज़म्पशन इन मॉडर्न इंडिया* (अध्याय 1, चित्र 2)

मैथ्यु एच. एडने, *मैपिंग एन एम्पायर : द ज्योग्राफ़िकल कंस्ट्रक्शन ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया, 1765-1843* (अध्याय 1, चित्र 1)

नॉर्मा इवेन्सन, *दि इंडियन मेट्रोपॉलिस : ए व्यू टुवर्ड द वेस्ट* (अध्याय 6, चित्र 8, 13, 14, 15)

आर. एच. फ़िलीमोर, *हिस्टॉरिकल रिकॉर्ड्स ऑफ़ द सर्वे ऑफ़ इंडिया* (अध्याय 1, चित्र 6)

रॉबर्ट मोंटगॉमरी मार्टिन, *दि इंडियन एम्पायर* (अध्याय 1, चित्र 7; अध्याय 2, चित्र 1; अध्याय 5, चित्र 7, 9)

रूद्रांग्शु मुखर्जी एवं प्रमोद कपूर, *डेटलाइन - 1857 : रिवोल्ट अगेंस्ट द राज* (अध्याय 5, चित्र 2, 7)

सूज़न एस. बीन, *यैंकी इंडिया : अमेरिकन कमर्शियल एंड कल्चरल एनकाउंटर्स विद इंडिया इन दि एेज ऑफ़ सेल, 1784-1860* (अध्याय 2, चित्र 8; अध्याय 3, चित्र 2; अध्याय 6, चित्र 2)

सूज़न स्ट्रॉंग, सं., *दि आर्ट्स ऑफ़ द सिख किंग्डम* (अध्याय 2, चित्र 11)

एम. एम. के., सं., *द गोल्डन काम : एन इंग्लिश लेडीज़ लाइफ़ इन मुग़ल डेल्ही : रेमिनिसेंसेज़ बाय एमिली, लेडी क्लाइव बेली, एंड बाय हर फ़ादर, सर टॉमस मेटकाफ़* (अध्याय 6, चित्र 5, 12)

टॉमस मेटकाफ़, *एन इम्पीरियल विज़न : इंडियन आर्किटेक्चर एंड ब्रिटेन्स राज* (अध्याय 6, चित्र 17)

तिज़ीयाना एवं जियानी बाल्दीत्सोन, *हिडेन ट्राइब्स ऑफ़ इंडिया* (अध्याय 4, चित्र 1, 2, 5, 6, 7)

विषय सूची

पूना के दरबार में संधि पर हस्ताक्षर करते हुए ब्रिटिश रेज़िडेन्ट, 1790

1 कैसे, कब और कहाँ

तारीख़ें कितनी महत्वपूर्ण होती हैं?

एक वक्त था जब इतिहासकार तारीख़ों के जादू में ही खोए रहते थे। कब किस राजा की ताजपोशी हुई, कब कौन सा युद्ध हुआ – इन्हीं तारीख़ों पर गर्मागर्म बहसें चलती थीं। आम समझ के हिसाब से इतिहास को तारीख़ों का पर्याय माना जाता था। आपने भी लोगों को यह कहते हुए सुना होगा : "इतिहास तो बहुत उबाऊ है भई। बस तारीख़ें रटते चले जाओ!" क्या इतिहास के बारे में यह धारणा सही है?

इसमें कोई शक नहीं कि इतिहास अलग-अलग समय पर आने वाले बदलावों के बारे में ही होता है। इसका संबंध इस बात से है कि अतीत में चीज़ें किस तरह की थीं और उनमें क्या बदलाव आए हैं। जैसे ही हम अतीत और वर्तमान की तुलना करते हैं, हम समय का ज़िक्र करने लगते हैं। हम "पहले" और "बाद में" की बात करने लगते हैं।

रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हम अपने आसपास की चीज़ों पर हमेशा ऐतिहासिक सवाल नहीं उठाते। हम चीज़ों को स्वाभाविक मानकर चलते हैं। मानो जो कुछ हमें दिख रहा है वह हमेशा से ऐसा ही रहा हो। लेकिन हम सबके सामने कभी-कभी अचंभे के क्षण आते हैं। कई बार हम उत्सुक हो जाते हैं और ऐसे सवाल पूछते हैं जो वाकई ऐतिहासिक होते हैं। किसी व्यक्ति को सड़क किनारे चाय के घूँट भरते देखकर आप इस बात पर हैरान हो सकते हैं कि चाय या कॉफी पीने का चलन शुरू कब से हुआ होगा? रेलगाड़ी की खिड़की से बाहर झाँकते हुए आपके ज़हन में यह सवाल उठ सकता है कि रेलवे का निर्माण कब हुआ? रेलगाड़ी के आने से पहले लोग दूर-दूर की यात्रा किस तरह कर पाते थे? सुबह-सुबह अख़बार पढ़ते हुए आप यह जानने के लिए उत्सुक हो सकते हैं कि जिस ज़माने में अख़बार नहीं छपते थे, उस समय लोगों को चीज़ों की जानकारी कैसे मिलती थी।

चित्र 1 – ब्राह्मण ब्रिटेनिया को शास्त्र भेंट कर रहे हैं, जेम्स रेनेल द्वारा तैयार किए गए पहले नक्शे का आवरण चित्र, 1782.

रॉबर्ट क्लाइव ने रेनेल को हिंदुस्तान के नक़्शे तैयार करने का काम सौंपा था। भारत पर अंग्रेज़ों की विजय के समर्थक रेनेल को वर्चस्व स्थापित करने की प्रक्रिया में नक्शे तैयार करना बहुत महत्वपूर्ण लगता था। इस तसवीर में दिखाया गया है कि भारत के लोग स्वेच्छापूर्वक अपने प्राचीन पवित्र ग्रंथ ब्रिटिश सत्ता की प्रतीक ब्रिटेनिया को सौंप रहे हैं मानो वे उसे भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए आने का आग्रह कर रहे हों।

गतिविधि

चित्र 1 को ध्यान से देखें। यह चित्र किस प्रकार उपनिवेशवाद का बोध कराता है।
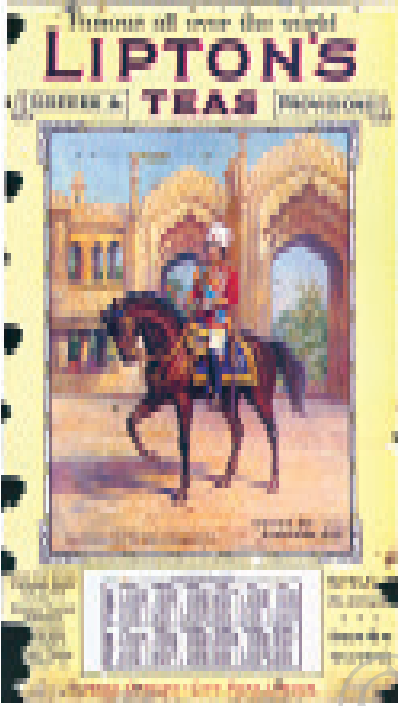
चित्र 2 – विज्ञापनों से भी पसंद–नापसंद तय होती है।

पुराने विज्ञापनों से हमें यह समझने में मदद मिलती है कि नए उत्पादों के लिए बाज़ार किस तरह तैयार हुए और किस तरह नयी रुचियाँ चलन में आयीं। 1922 में लिप्टन चाय के लिए तैयार किया गया यह विज्ञापन इस बात की ओर संकेत करता है कि दुनिया भर के शाही लोग यही चाय पीते हैं। इस तसवीर में पीछे की तरफ़ एक भारतीय महल दिखाई दे रहा है जबकि अगले हिस्से में ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया का तीसरा बेटा राजकुमार आर्थर घोड़े पर बैठा हुआ है। राजकुमार आर्थर को ड्यूक ऑफ़ कनॉट की पदवी दी गई थी।

ये सारे ऐतिहासिक सवाल हमें समय के बारे में सोचने के लिए प्रेरित कर देते हैं। समय को हमेशा साल या महीनों के पैमाने पर ही नहीं देखा जा सकता। कई बार ऐसी प्रक्रियाओं के लिए कोई तारीख़ तय करना वाक़ई ग़लत होता है जो एक लंबे समय तक चलती रहती हैं। भारत में लोगों ने अचानक एक दिन सुबह–सबेरे चाय पीना शुरू नहीं कर दिया था। इसका स्वाद धीरे–धीरे ही उनकी ज़बान पर चढ़ा था। इस तरह की प्रक्रियाओं के लिए कोई स्पष्ट तिथि नहीं हो सकती। इसी तरह हम ब्रिटिश शासन की स्थापना के लिए भी कोई एक तिथि नहीं बता सकते। राष्ट्रीय आंदोलन किस दिन शुरू हुआ या अर्थव्यवस्था या समाज में किस दिन बदलाव आए, यह बताना भी संभव नहीं है। ये सारी चीज़ें एक लंबे समय में घटती हैं। ऐसे में हम सिर्फ़ एक अवधि की ही बात कर सकते हैं, एक लगभग सही अवधि के बारे में बता सकते हैं जब वे खास बदलाव दिखाई देने शुरू हुए होंगे।

तो फिर लोग इतिहास को तारीख़ों से जोड़ कर क्यों देखते हैं? इस जुड़ाव की एक वजह है। एक समय था जब युद्ध और बड़ी–बड़ी घटनाओं के ब्योरों को ही इतिहास माना जाता था। यह इतिहास राजा–महाराजाओं और उनकी नीतियों के बारे में होता था। इतिहासकार यह लिखते थे कि कौन से साल राजा को ताज पहनाया गया, किस साल उसका विवाह हुआ, किस साल उसके घर में बच्चा पैदा हुआ, कौन से साल उसने कौन सी लड़ाई लड़ी, वह कब मरा और उसके बाद कब कौन–सा शासक गद्दी पर बैठा। इस तरह की घटनाओं के लिए निश्चित तिथि बताई जा सकती है और इस तरह के इतिहासों में तिथियों का महत्व बना रहता है।

जैसा कि पिछले दो साल की इतिहास की किताबों में आपने देखा है, अब इतिहासकार बहुत सारे दूसरे मुद्दों और दूसरे सवालों के बारे में भी लिखने लगे हैं। वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि लोग किस तरह अपनी रोज़ी–रोटी चलाते थे। वे क्या पैदा करते थे और क्या खाते थे। शहर कैसे बने और बाज़ार किस तरह फैले। किस तरह रियासतें बनीं, नए विचार पनपे और संस्कृति व समाज किस तरह बदले।

कौन सी तारीख़ें?

कुछ तारीख़ों को महत्वपूर्ण मानने का पैमाना क्या होता है? हम जो तारीख़ें चुनते हैं, जिन तारीख़ों के इर्द–गिर्द हम अतीत की कहानी बुनते हैं, वे अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं होतीं। वे इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती हैं क्योंकि हम कुछ खास घटनाओं को महत्वपूर्ण मानकर चलने लगते हैं। अगर अध्ययन का विषय बदल जाता है, अगर हम नए मुद्दों पर ध्यान देने लगते हैं तो महत्वपूर्ण तारीख़ें भी बदल जाती हैं।

एक उदाहरण पर विचार कीजिए। भारत में ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो इतिहास लिखे उनमें हरेक गवर्नर–जनरल का शासनकाल महत्वपूर्ण है। ये इतिहास प्रथम गवर्नर–जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स के शासन से शुरू होते थे और आखिरी वायसरॉय, लॉर्ड माउंटबैटन के साथ खत्म होते थे। अलग–अलग अध्यायों में हम दूसरे गवर्नर–जनरलों – हेस्टिंग्स, वेलेज़्ली, बेंटिंक, डलहौज़ी,

कैनिंग, लॉरेंस, लिटन, रिपन, कर्ज़न, हार्डिंग, इरविन – के बारे में भी पढ़ते हैं। इस इतिहास में गवर्नर-जनरलों और वायसरॉयों का कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला ही छाया रहता था। इतिहास की इन किताबों में सारी तारीख़ों का महत्व इन अधिकारियों, उनकी गतिविधियों, नीतियों, उपलब्धियों के आधार पर ही तय होता था। यह ऐसे था मानो इन लोगों के जीवन के बाहर कोई ऐसी चीज़ नहीं थी जिसे जानना महत्वपूर्ण हो। इन लोगों के जीवन का क्रम ब्रिटिश भारत के इतिहास में अलग-अलग अध्यायों का विषय बन जाता था।

क्या हम इसी दौर के इतिहास को अलग ढंग से नहीं लिख सकते? गवर्नर-जनरलों के इस इतिहास के चौखटे में हम भारतीय समाज के विभिन्न समूहों और वर्गों की गतिविधियों पर किस तरह ध्यान दे सकते हैं?

जब हम इतिहास या कोई कहानी लिखते हैं तो उसे टुकड़ों या अध्यायों में बाँट देते हैं। हम ऐसा क्यों करते हैं? ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि हर अध्याय में कुछ सामंजस्य रहे। इसका मक़सद कहानी को इस तरह सामने लाना होता है कि उसे आसानी से समझा जा सके और याद रखा जा सके। इस प्रक्रिया में हम सिर्फ़ उन घटनाओं पर ज़ोर देते हैं जो उस कहानी को पेश करने में मददगार होती हैं। जो इतिहास गवर्नर-जनरलों के जीवन के इर्द-गिर्द चलता है उसमें भारतीयों की गतिविधियाँ कोई मायने नहीं रखतीं। उनके लिए वहाँ कोई जगह नहीं होती। तो फिर क्या किया जाए? ज़ाहिर है हमें अपने इतिहास का एक अलग ख़ाका बनाना पड़ेगा। इसका मतलब यह है कि अब तक जिन तिथियों को महत्व दिया जा रहा था वे महत्वपूर्ण नहीं रहेंगी। हमारे लिए नयी तिथियाँ महत्वपूर्ण हो जाएँगी।

चित्र 3 – वॉरेन हेस्टिंग्स 1773 में भारत के पहले गवर्नर-जनरल बने।

इतिहास की किताबों में गवर्नर-जनरलों के कारनामों, जीवनियों में उनकी गौरवगाथाओं और तसवीरों में उनके भव्य व्यक्तित्व को उभारा जाता था।

हम अवधियाँ कैसे तय करते हैं?

1817 में स्कॉटलैंड के अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक जेम्स मिल ने तीन विशाल खंडों में *ए हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इंडिया* (ब्रिटिश भारत का इतिहास) नामक एक किताब लिखी। इस किताब में उन्होंने भारत के इतिहास को हिंदू, मुसलिम और ब्रिटिश, इन तीन काल खंडों में बाँटा था। काल खंडों के इस निर्धारण को ज़्यादातर लोगों ने मान भी लिया। क्या आपको भारतीय इतिहास को समझने के इस तरीके में कोई समस्या दिखाई देती है?

इतिहास को हम अलग-अलग काल खंडों में बाँटने की कोशिश क्यों करते हैं? इसकी भी एक वजह है। हम एक दौर की ख़ासियतों, उसके केंद्रीय तत्वों को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इसीलिए ऐसे शब्द महत्वपूर्ण हो जाते हैं जिनके सहारे हम समय को बाँटते हैं। ये शब्द अतीत के बारे में हमारे विचारों को दर्शाते हैं। वे हमें बताते हैं कि एक अवधि से दूसरी अवधि के बीच आए बदलावों का क्या महत्व होता है।

मिल को लगता था कि सारे एशियाई समाज सभ्यता के मामले में यूरोप से पीछे हैं। इतिहास की उनकी समझदारी ये थी कि भारत में अंग्रेज़ों के आने से पहले यहाँ हिंदू और मुसलमान तानाशाहों का ही राज चलता था। यहाँ चारों ओर केवल धार्मिक बैर, जातिगत बंधनों और अंधविश्वासों का ही बोलबाला

गतिविधि

अपनी माँ या परिवार के किसी अन्य सदस्य से बात करके उनके जीवन के बारे में पता लगाएँ। अब उनके जीवन को अलग-अलग काल खंडों में बाँटें और प्रत्येक अवधि की महत्वपूर्ण घटनाओं की सूची बनाएँ। स्पष्ट करें कि आपने काल खंडों को किस तरह तय किया है।

था। मिल की राय में ब्रिटिश शासन भारत को सभ्यता की राह पर ले जा सकता था। इस काम के लिए ज़रूरी था कि भारत में यूरोपीय शिष्टाचार, कला, संस्थानों और कानूनों को लागू किया जाए। मिल ने तो यहाँ तक सुझाव दिया था कि अंग्रेज़ों को भारत के सारे भूभाग पर कब्ज़ा कर लेना चाहिए ताकि भारतीय जनता को ज्ञान और सुखी जीवन प्रदान किया जा सके। उनका मानना था कि अंग्रेज़ों की मदद के बिना हिंदुस्तान प्रगति नहीं कर सकता।

इतिहास की इस धारणा में अंग्रेज़ी शासन प्रगति और सभ्यता का प्रतीक था। अंग्रेज़ी शासन से पहले सारा अंधकार का दौर था। क्या इस तरह की धारणा को स्वीकार किया जा सकता है?

क्या इतिहास के किसी दौर को "हिंदू" या "मुसलमान" दौर कहा जा सकता है? क्या इन सारे दौरों में कई तरह के धर्म एक साथ नहीं चलते थे? किसी युग को केवल उस समय के शासकों के धर्म के हिसाब से तय करने की ज़रूरत क्या है? अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका मतलब यह कहना चाहते हैं कि औरों के जीवन और तौर-तरीकों का कोई महत्व नहीं होता। हमें याद रखना चाहिए कि प्राचीन भारत में सारे शासकों का भी एक धर्म नहीं होता था।

अंग्रेज़ों द्वारा सुझाए गए वर्गीकरण से अलग हटकर इतिहासकार भारतीय इतिहास को आमतौर पर 'प्राचीन', 'मध्यकालीन', तथा 'आधुनिक' काल में बाँटकर देखते हैं। इस विभाजन की भी अपनी समस्याएँ हैं। इतिहास को इन खंडों में बाँटने की यह समझ भी पश्चिम से आई है। पश्चिम में आधुनिक काल को विज्ञान, तर्क, लोकतंत्र, मुक्ति और समानता जैसी आधुनिकता की ताकतों के विकास का युग माना जाता है। उनके लिए मध्यकालीन समाज वे समाज थे जहाँ आधुनिक समाज की ये विशेषताएँ नहीं थीं। क्या हम अपने अध्ययन के लिए आधुनिक काल की इस अवधारणा को बिना सोचे-विचारे ऐसे ही अपना सकते हैं? जैसा कि आप इस किताब में देखेंगे, अंग्रेज़ों के शासन में लोगों के पास समानता, स्वतंत्रता या मुक्ति नहीं थी। न ही यह आर्थिक विकास और प्रगति का दौर था।

बहुत सारे इतिहासकार इस युग को 'औपनिवेशिक' युग कहते हैं।

औपनिवेशिक क्या होता है?

इस किताब में आप पढ़ेंगे कि किस तरह अंग्रेज़ों ने हमारे देश को जीता और स्थानीय नवाबों और राजाओं को दबाकर अपना शासन स्थापित किया। आप देखेंगे कि किस तरह उन्होंने अर्थव्यवस्था व समाज पर नियंत्रण स्थापित किया, अपने सारे खर्चों को निपटाने के लिए राजस्व वसूल किया, अपनी ज़रूरत की चीज़ों को सस्ती कीमत पर ख़रीदा, निर्यात के लिए महत्वपूर्ण फ़सलों की खेती करायी और इन सारी कोशिशों के कारण क्या बदलाव आए। आप ये भी जानेंगे कि ब्रिटिश शासन के कारण यहाँ की मूल्य-मान्यताओं और पसंद-नापसंद, रीति-रिवाज व तौर-तरीकों में क्या बदलाव आए। जब एक देश पर दूसरे देश के दबदबे से इस तरह के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव आते हैं तो इस प्रक्रिया को औपनिवेशीकरण कहा जाता है।

लेकिन, जल्दी ही आप ये समझ जाएँगे कि सारे वर्ग और समूह इन बदलावों

को एक ही ढंग से अनुभव नहीं कर रहे थे। इसीलिए, इस किताब को *हमारे अतीत* (यानी कई अतीतों पर केंद्रित) नाम दिया गया है।

हम किस तरह जानते हैं?

भारतीय इतिहास के पिछले 250 साल का इतिहास लिखने के लिए इतिहासकार कौन से स्रोतों का इस्तेमाल करते हैं?

प्रशासन अभिलेख तैयार करता है

अंग्रेज़ी शासन द्वारा तैयार किए गए सरकारी रिकॉर्ड इतिहासकारों का एक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। अंग्रेज़ों की मान्यता थी कि चीज़ों को लिखना बहुत महत्वपूर्ण होता है। उनके लिए हर निर्देश, हर योजना, नीतिगत फैसले, सहमति, जाँच को साफ़-साफ़ लिखना ज़रूरी था। ऐसा करने के बाद चीज़ों का अच्छी तरह अध्ययन किया जा सकता था और उन पर वाद-विवाद किया जा सकता है। इस समझदारी के चलते ज्ञापन, टिप्पणी और प्रतिवेदन पर आधारित शासन की संस्कृति पैदा हुई।

अंग्रेज़ों को यह भी लगता था कि तमाम अहम दस्तावेज़ों और पत्रों को सँभालकर रखना ज़रूरी है। लिहाज़ा, उन्होंने सभी शासकीय संस्थानों में अभिलेख कक्ष भी बनवा दिए। तहसील के दफ़्तर, कलेक्टरेट, कमिश्नर के दफ़्तर, प्रांतीय सचिवालय, कचहरी – सबके अपने रिकॉर्ड रूम होते थे। महत्वपूर्ण दस्तावेज़ों को बचाकर रखने के लिए अभिलेखागार (आर्काइव) और संग्रहालय जैसे संस्थान भी बनाए गए।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में प्रशासन की एक शाखा से दूसरी शाखा के पास भेजे गए पत्रों और ज्ञापनों को आप आज भी अभिलेखागारों में देख सकते हैं। वहाँ आप ज़िला अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए नोट्स और रिपोर्ट पढ़ सकते हैं या ऊपर बैठे अफ़सरों द्वारा प्रांतीय अधिकारियों को भेजे गए निर्देश और सुझाव देख सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के शुरुआती सालों में इन दस्तावेज़ों की सावधानीपूर्वक नक़लें बनाई जाती थीं।

उन्हें खुशनवीसी के माहिर लिखते थे। खुशनवीसी या सुलेखनवीस ऐसे लोग होते हैं जो बहुत सुंदर ढंग से चीज़ें लिखते हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक छपाई

चित्र 4 – भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार 1920 के दशक में बनाया गया।

जब नयी दिल्ली का निर्माण हुआ तो राष्ट्रीय संग्रहालय और राष्ट्रीय अभिलेखागार, दोनों ही वायसरॉय के निवास के नज़दीक बनाए गए थे। इससे पता चलता है कि अंग्रेज़ों की सोच में इन संस्थानों का कितना भारी महत्व था।

स्रोत 1

गृह विभाग को भेजी गई रिपोर्टें

सन् 1946 में भारत की औपनिवेशिक सरकार शाही भारतीय नौसेना के जहाज़ों में सिपाहियों की बगावत को कुचलने का प्रयास कर रही थी। उस समय विभिन्न बंदरगाहों से गृह विभाग को जो रिपोर्टें मिल रही थीं उनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

बम्बई : इस बात का इंतज़ाम कर लिया गया है कि सेना जहाज़ों और दफ़्तरों पर कब्ज़ा कर ले। शाही नौसैनिक जहाज़ अभी भी बंदरगाह से बाहर ही हैं।

कराची : 301 विद्रोहियों को गिरफ़्तार कर लिया गया है। कुछ अन्य संदेहास्पद विद्रोही भी गिरफ़्तार किए गए हैं... सारे दफ़्तर... सैनिक निगरानी में हैं।

विशाखापट्नम : स्थिति पूरी तरह नियंत्रण में है और कहीं हिंसा नहीं हुई है। जहाज़ों और प्रतिष्ठानों पर सैनिक गार्ड तैनात कर दिए गए हैं। किसी परेशानी की उम्मीद नहीं है सिवाय इसके कि संभव है कुछ सिपाही काम पर न आएँ।

डायरेक्टर ऑफ़ इंटेलिजेंस, हेडक्वार्टर, इंडिया कमान्ड, सिचुएशन रिपोर्ट सं. 7, फाइल सं. 5/21/46. गृह (राजनीतिक), भारत सरकार।

तकनीक भी फैलने लगी थी। इस तकनीक के सहारे अब प्रत्येक सरकारी विभाग की कार्रवाइयों के दस्तावेज़ों की कई-कई प्रतियाँ बनाई जाने लगीं।

सर्वेक्षण का बढ़ता महत्व

औपनिवेशिक शासन के दौरान सर्वेक्षण का चलन भी महत्वपूर्ण होता गया। अंग्रेज़ों का विश्वास था कि किसी देश पर अच्छी तरह शासन चलाने के लिए उसको सही ढंग से जानना ज़रूरी होता है।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक पूरे देश का नक्शा तैयार करने के लिए बड़े-बड़े सर्वेक्षण किए जाने लगे। गांवों में राजस्व सर्वेक्षण किए गए। इन सर्वेक्षणों में धरती की सतह, मिट्टी की गुणवत्ता, वहाँ मिलने वाले पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं तथा स्थानीय इतिहासों व फ़सलों का पता लगाया जाता था। अंग्रेज़ों की राय में किसी इलाके का शासन चलाने के लिए इन सारी बातों को जानना ज़रूरी था। उन्नीसवीं सदी के आखिर से हर दस साल में जनगणना भी की जाने लगी। जनगणना के ज़रिए भारत के सभी प्रांतों में रहने वाले लोगों की संख्या, उनकी जाति, इलाके और व्यवसाय के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा की जाती थीं। इसके अलावा वानस्पतिक सर्वेक्षण, प्राणि वैज्ञानिक सर्वेक्षण, पुरातात्वीय सर्वेक्षण, मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण, वन सर्वेक्षण आदि कई दूसरे सर्वेक्षण भी किए जाते थे।

चित्र 5 *– शरीफ़े का पौधा, 1770 का दशक।*

अंग्रेज़ों द्वारा बनाए गए वानस्पतिक उद्यान और प्राकृतिक इतिहास के संग्रहालयों में विभिन्न पौधों के नमूने और उनसे संबंधित जानकारियाँ इकट्ठा की जाती थीं। इन नमूनों के चित्र स्थानीय कलाकारों से बनवाए जाते थे। अब इतिहासकार इस बात पर ध्यान दे रहे हैं कि इस तरह की जानकारी किस तरह इकट्ठा की जाती थी और इससे उपनिवेशवाद के बारे में क्या पता चलता है।

अधिकृत रिकॉर्ड्स से क्या पता नहीं चलता

रिकॉर्ड्स के इस विशाल भंडार से हम बहुत कुछ पता लगा सकते हैं। फिर भी, इस बात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि ये सारे सरकारी
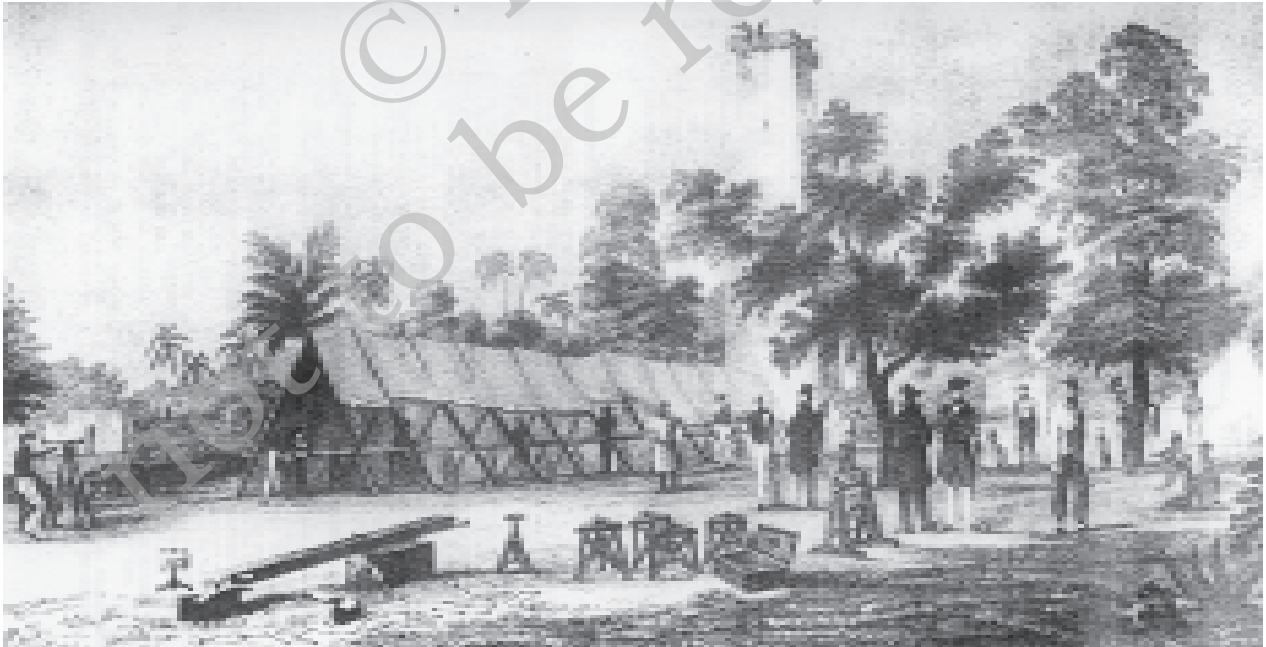
चित्र 6 *– बंगाल में मानचित्रण और सर्वेक्षण कार्य चल रहा है। जेम्स प्रिंसेप द्वारा बनाई गई तसवीर, 1832.*

ध्यान से देखें कि सर्वेक्षण में इस्तेमाल होने वाले सारे उपकरणों को चित्र के अगले हिस्से में दिखाया गया है। चित्रकार इस परियोजना के वैज्ञानिक स्वरूप पर ख़ासतौर से ज़ोर देना चाहता है।

चित्र 7 – 1857 के विद्रोही।

तसवीरों को भी बहुत ध्यान से देखना चाहिए। उनसे हमें चित्रकार की सोच पता चलती है। 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों द्वारा तैयार की गई सचित्र पुस्तकों में यह तसवीर कई जगह दिखाई देती है। इस तसवीर के नीचे लिखा होता था : "बाग़ी सिपाही लूट-खसोट में लगे हुए हैं"। अंग्रेज़ों की नज़र में विद्रोही जनता लालची, दुष्ट और बेरहम थी। इस विद्रोह के बारे में आप अध्याय 5 में पढ़ेंगे।

रिकॉर्ड हैं। इनसे हमें यही पता चलता है कि सरकारी अफ़सर क्या सोचते थे, उनकी दिलचस्पी किन चीज़ों में थी और बाद के लिए वे किन चीज़ों को बचाए रखना चाहते थे। इन रिकॉर्ड्स से हमें ये समझने में हमेशा मदद नहीं मिलती कि देश के दूसरे लोग क्या महसूस करते थे और उनकी कार्रवाइयों की क्या वजह थी।

इन बातों को जानने के लिए हमें कहीं और देखना होगा। जब हम ऐसे दूसरे स्रोतों की तलाश में निकलते हैं तो उनकी भी कोई कमी नहीं रहती। लेकिन, सरकारी रिकॉर्ड्स के मुकाबले उन्हें ढूँढ़ना ज़रा मुश्किल साबित होता है। इस लिहाज़ से लोगों की डायरियाँ, तीर्थ यात्राओं और यात्रियों के संस्मरण, महत्वपूर्ण लोगों की आत्मकथाएँ और स्थानीय बाज़ारों में बिकने वाली लोकप्रिय पुस्तक-पुस्तिकाएँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं। जैसे-जैसे छपाई की तकनीक फैली, अख़बार छपने लगे और विभिन्न मुद्दों पर जनता में बहस भी होने लगी। नेताओं और सुधारकों ने अपने विचारों को फैलाने के लिए लिखा, कवियों और उपन्यासकारों ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए लिखा।

लेकिन ये सारे स्रोत उन लोगों ने रचे हैं जो पढ़ना-लिखना जानते थे। इनसे हम यह पता नहीं लगा सकते कि आदिवासी और किसान, खदानों में काम करने वाले मज़दूर या सड़कों पर ज़िंदगी गुजारने वाले गरीब किस तरह के अनुभवों से गुजर रहे थे।

अगर हम थोड़ी और कोशिश करें तो हम इस बारे में भी जान सकते हैं। जैसे-जैसे आप इस किताब में आगे बढ़ेंगे, आपको यह बात समझ में आने लगेगी।

स्रोत 2

"इंसानों के खाने के लायक नहीं है"

अख़बारों से देश के विभिन्न विभागों में चल रहे आंदोलनों का पता चलता है। यहाँ 1946 में हुई पुलिस की एक हड़ताल की ख़बर दी गई है।

दिल्ली में 2000 से ज़्यादा पुलिसवालों ने बृहस्पतिवार सवेरे अपने कम वेतन और पुलिस लाइन्स बावर्चीखाने से आने वाले घटिया भोजन के ख़िलाफ़ खाना खाने से इनकार कर दिया।

जैसे-जैसे यह ख़बर दूसरे पुलिस थानों तक पहुँची, वहाँ भी पुलिस वालों ने खाने से इनकार कर दिया...। एक हड़ताली का कहना था : "पुलिस लाइन्स की रसोई से हमारे लिए जो खाना आता है वह कोई इंसान नहीं खा सकता। हमें जो चपाती और दाल खानी पड़ती है उसे जानवर तक नहीं खा सकते"।

हिंदुस्तान टाइम्स, 22 मार्च 1946

गतिविधि

स्रोत 1 और 2 को देखें। क्या आपको प्रतिवेदनों के स्वरूप में कोई फ़र्क दिखाई देता है। बताएँ कि आपको क्या फ़र्क लगता है।

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि आप इतिहासकार हैं। आप यह पता लगाना चाहते हैं कि आज़ादी मिलने के बाद एक दुर्गम आदिवासी इलाके की खेती में क्या बदलाव आए हैं। इन जानकारियों को ढूँढ़ने के विभिन्न तरीकों की सूची बनाएँ।

फिर से याद करें

1. सही और गलत बताएँ

(क) जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास को हिंदू, मुसलिम, ईसाई, तीन काल खंडों में बाँट दिया था।

(ख) सरकारी दस्तावेज़ों से हमें ये समझने में मदद मिलती है कि आम लोग क्या सोचते हैं।

(ग) अंग्रेज़ों को लगता था कि सही तरह शासन चलाने के लिए सर्वेक्षण महत्वपूर्ण होते हैं।

आइए विचार करें

2. जेम्स मिल ने भारतीय इतिहास को जिस तरह काल खंडों में बाँटा है, उसमें क्या समस्याएँ हैं?
3. अंग्रेज़ों ने सरकारी दस्तावेज़ों को किस तरह सुरक्षित रखा?
4. इतिहासकार पुराने अख़बारों से जो जानकारी जुटाते हैं वह पुलिस की रिपोर्टों में उपलब्ध जानकारी से किस तरह अलग होती है?

आइए करके देखें

5. क्या आप आज की दुनिया के कुछ सर्वेक्षणों का उदाहरण दे सकते हैं? सोचकर देखिए कि खिलौना बनाने वाली कंपनियों को यह पता कैसे चलता है कि बच्चे किन चीज़ों को ज़्यादा पसंद करते हैं। या, सरकार को यह कैसे पता चलता है कि स्कूलों में बच्चों की संख्या कितनी है? इतिहासकार ऐसे सर्वेक्षणों से क्या हासिल कर सकते हैं?

2 व्यापार से साम्राज्य तक
कंपनी की सत्ता स्थापित होती है

मुग़ल बादशाहों में औरंगज़ेब आखिरी शक्तिशाली बादशाह थे। उन्होंने वर्तमान भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था। 1707 में उनकी मृत्यु के बाद बहुत सारे मुग़ल सूबेदार और बड़े-बड़े ज़मींदार अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उन्होंने अपनी क्षेत्रीय रियासतें कायम कर ली थीं। जैसे-जैसे विभिन्न भागों में ताकतवर क्षेत्रीय रियासतें सामने आने लगीं, दिल्ली अधिक दिनों तक प्रभावी केन्द्र के रूप में नहीं रह सकी।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध तक राजनीतिक क्षितिज पर अंग्रेज़ों के रूप में एक नयी ताकत उभरने लगी थी। क्या आप जानते हैं कि अंग्रेज़ पहले-पहल एक छोटी-सी व्यापारिक कंपनी के रूप में भारत आए थे और यहाँ के इलाकों पर कब्ज़े में उनकी ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी? तो फिर ऐसा कैसे हुआ कि एक दिन वे इस विशाल साम्राज्य के स्वामी बन बैठे? इस अध्याय में आप देखेंगे कि यह कैसे हुआ?

चित्र 1 – कैप्टन हडसन द्वारा बहादुर शाह ज़फ़र और उनके बेटों की गिरफ़्तारी।
औरंगज़ेब के बाद कोई मुग़ल बादशाह इतना ताकतवर तो नहीं हुआ लेकिन एक प्रतीक के रूप में मुग़ल बादशाहों का महत्व बना हुआ था। जब 1857 में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारी विद्रोह शुरू हो गया तो विद्रोहियों ने मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र को ही अपना नेता मान लिया था। जब विद्रोह कुचल दिया गया तो कंपनी ने बहादुर शाह ज़फ़र को देश छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया और उनके बेटों को ज़फ़र के सामने ही मार डाला।
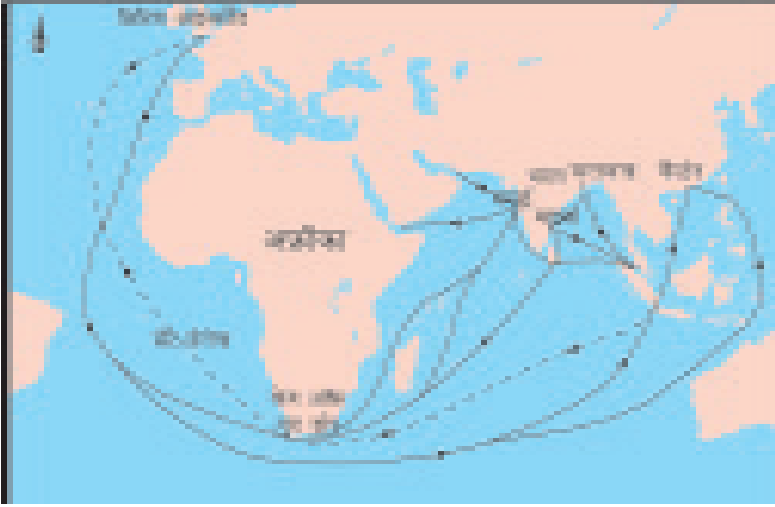
चित्र 2 – अठारहवीं सदी में भारत तक आने वाले रास्ते।

पूर्व में ईस्ट इंडिया कंपनी का आना

सन् 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंग्लैंड की महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम से चार्टर अर्थात इजाजतनामा हासिल कर लिया जिससे कंपनी को पूरब से व्यापार करने का एकाधिकार मिल गया। इस इज़ाज़तनामे का मतलब यह था कि इंग्लैंड की कोई और व्यापारिक कंपनी इस इलाके में ईस्ट इंडिया कंपनी से होड़ नहीं कर सकती थी। इस चार्टर के सहारे कंपनी समुद्र पार जाकर नए इलाकों को खँगाल सकती थी, वहाँ से सस्ती कीमत पर चीज़ें ख़रीद कर उन्हें यूरोप में ऊँची कीमत पर बेच सकती थी। कंपनी को दूसरी अंग्रेज़ व्यापारिक कंपनियों से प्रतिस्पर्धा का कोई भय नहीं था। उस ज़माने में **वाणिज्यिक** कंपनियाँ मोटे तौर पर प्रतिस्पर्धा से बचकर ही मुनाफा कमा सकती थीं। अगर कोई प्रतिस्पर्धी न हो तभी वे सस्ती चीज़ें ख़रीदकर उन्हें ज़्यादा कीमत पर बेच सकती थीं।

वाणिज्यिक – एक ऐसा व्यावसायिक उद्यम जिसमें चीज़ों को सस्ती कीमत पर ख़रीद कर और ज़्यादा कीमत पर बेचकर यानी मुख्य रूप से व्यापार के ज़रिए मुनाफा कमाया जाता है।

लेकिन यह शाही दस्तावेज़ दूसरी यूरोपीय ताकतों को पूरब के बाज़ारों में आने से नहीं रोक सकता था। जब तक इंग्लैंड के जहाज़ अफ्रीका के पश्चिम तट को छूते हुए केप ऑफ़ गुड होप का चक्कर लगाकर हिंद महासागर पार करते तब तक पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तट पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी थी। वे गोवा में अपना ठिकाना बना चुके थे। पुर्तगाल के खोजी यात्री वास्को द गामा ने ही 1498 में पहली बार भारत तक पहुँचने के इस समुद्री मार्ग का पता लगाया था। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत तक डच भी हिंद महासागर में व्यापार की संभावनाएँ तलाशने लगे थे। कुछ ही समय बाद फ़्रांसीसी व्यापारी भी सामने आ गए।

समस्या यह थी कि सारी कंपनियाँ एक जैसी चीज़ें ही ख़रीदना चाहती थीं। यूरोप के बाज़ारों में भारत के बने बारीक सूती कपड़े और रेशम की जबरदस्त माँग थी। इनके अलावा काली मिर्च, लौंग, इलायची और दालचीनी की भी जबरदस्त माँग रहती थी। यूरोपीय कंपनियों के बीच इस बढ़ती प्रतिस्पर्धा से भारतीय बाज़ारों में इन चीज़ों की कीमतें बढ़ने लगीं और उनसे मिलने वाला मुनाफा गिरने लगा। अब इन व्यापारिक कंपनियों के फलने-फूलने का यही एक रास्ता था कि वे अपनी प्रतिस्पर्धी कंपनियों को खत्म कर दे। लिहाजा, बाज़ारों पर कब्जे की इस होड़ ने व्यापारिक कंपनियों के बीच लड़ाइयों की शुरुआत कर दी। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में जब भी मौका मिलता कोई-सी एक कंपनी किसी दूसरी कंपनी के जहाज़ डूबो देती, रास्ते में रुकावटें खड़ी कर देती और माल से लदे जहाज़ों को आगे

बढ़ने से रोक देती। यह व्यापार हथियारों की मदद से चल रहा था और व्यापारिक चौकियों को किलेबंदी के ज़रिए सुरक्षित रखा जाता था।

अपनी बस्तियों को किलेबंद करने और व्यापार में मुनाफा कमाने की इन कोशिशों के कारण स्थानीय शासकों से भी टकराव होने लगे। इस प्रकार, व्यापार और राजनीति को एक-दूसरे से अलग रखना कंपनी के लिए मुश्किल होता जा रहा था। आइए देखें कि यह कैसे हुआ।

ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल में व्यापार शुरू करती है

पहली इंग्लिश फैक्टरी 1651 में हुगली नदी के किनारे शुरू हुई। कंपनी के व्यापारी यहीं से अपना काम चलाते थे। इन व्यापारियों को उस जमाने में "फैक्टर" कहा जाता था। इस फैक्टरी में वेयरहाउस था जहाँ निर्यात होने वाली चीज़ों को जमा किया जाता था। यहीं पर उसके दफ़्तर थे जिनमें कंपनी के अफ़सर बैठते थे। जैसे-जैसे व्यापार फैला कंपनी ने सौदागरों और व्यापारियों को फैक्टरी के आस-पास आकर बसने के लिए प्रेरित किया। 1696 तक कंपनी ने इस आबादी के चारों तरफ एक क़िला बनाना शुरू कर दिया था। दो साल बाद उसने मुग़ल अफ़सरों को रिश्वत देकर तीन गाँवों की ज़मींदारी भी ख़रीद ली। इनमें से एक गाँव कालीकाता था जो बाद में कलकत्ता बना। अब इसे कोलकाता कहा जाता है। कंपनी ने मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब को इस बात के लिए भी तैयार कर लिया कि वह कंपनी को बिना शुल्क चुकाए व्यापार करने का **फ़रमान** जारी कर दे।

फ़रमान – एक शाही आदेश

कंपनी ज़्यादा से ज़्यादा रियायतें हासिल करने और पहले से मौजूद अधिकारों का ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठाने में लगी हुई थी। उदाहरण के लिए, औरंगज़ेब के फरमान से केवल कंपनी को ही शुल्क मुक्त व्यापार का अधिकार मिला था। कंपनी के जो अफ़सर निजी तौर पर व्यापार चलाते उन्हें यह छूट नहीं थी। लेकिन उन्होंने भी शुल्क चुकाने से इनकार कर दिया। इससे बंगाल में राजस्व वसूली बहुत कम हो गई। ऐसे में भला बंगाल के नवाब मुर्शिद कुली खान विरोध क्यों न करते?

चित्र 3 – मद्रास के जहाज़ों से सामान लाती स्थानीय नौकाएँ, विलियम सिम्पसन द्वारा बनाया गया चित्र, 1867

चित्र 4 – *रॉबर्ट क्लाइव।*

व्यापार से युद्धों तक

अठारहवीं सदी की शुरुआत में कंपनी और बंगाल के नवाबों का टकराव काफी बढ़ गया था। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद बंगाल के नवाब अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उस समय दूसरी क्षेत्रीय ताकतों की स्थिति भी ऐसी ही थी। मुर्शिद कुली खान के बाद अली वर्दी खान और उसके बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। ये सभी शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने कंपनी को रियायतें देने से मना कर दिया। व्यापार का अधिकार देने के बदले कंपनी से नज़राने माँगे, उसे सिक्के ढालने का अधिकार नहीं दिया, और उसकी किलेबंदी को बढ़ाने से रोक दिया। कंपनी पर धोखाधड़ी का आरोप लगाते हुए उन्होंने दलील दी कि उसकी वजह से बंगाल सरकार की राजस्व वसूली कम होती जा रही है और नवाबों की ताकत कमज़ोर पड़ रही है। कंपनी टैक्स चुकाने को तैयार नहीं थी, उसके अफ़सरों ने अपमानजनक चिट्ठियाँ लिखीं और नवाबों व उनके अधिकारियों को अपमानित करने का प्रयास किया।

कंपनी का कहना था कि स्थानीय अधिकारियों की बेतुकी माँगों से कंपनी का व्यापार तबाह हो रहा है। व्यापार तभी फल-फूल सकता है जब सरकार शुल्क हटा ले। कंपनी को इस बात का भी यकीन था कि अपना व्यापार फैलाने के लिए उसे अपनी आबादी बढ़ानी होगी। गाँव ख़रीदने होंगे और किलों का पुनर्निर्माण करना होगा।

ये टकराव दिनोदिन गंभीर होते गए अन्ततः इन टकरावों की परिणति प्लासी के प्रसिद्ध युद्ध के रूप में हुई।

कठपुतली – यह एक खिलौना होता है जिसे आप धागों के सहारे अपने हिसाब से नचाते हैं। जो व्यक्ति किसी और के इशारों पर चलता है उसे भी मज़ाक उड़ाने के लिए अकसर कठपुतली कहा जाता है।

प्लासी का युद्ध

1756 में अली वर्दी खान की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। कंपनी को सिराजुद्दौला की ताकत से काफी भय था। सिराजुद्दौला की जगह कंपनी एक ऐसा **कठपुतली** नवाब चाहती थी जो उसे व्यापारिक रियायतें और अन्य सुविधाएँ आसानी से देने में आनाकानी न करे। कंपनी ने प्रयास किया कि सिराजुद्दौला के प्रतिद्वंद्वियों में से किसी को नवाब बना दिया जाए। कंपनी को कामयाबी नहीं मिली। जवाब में सिराजुद्दौला ने हुक्म दिया कि कंपनी उनके राज्य के राजनीतिक मामलों में टाँग अड़ाना बंद कर दे, किलेबंदी रोके और बाकायदा राजस्व चुकाए। जब दोनों पक्ष पीछे हटने को तैयार नहीं हुए तो अपने 30,000 सिपाहियों के साथ नवाब ने कासिम बाज़ार में स्थित इंग्लिश फैक्टरी पर हमला बोल दिया। नवाब की फौजों ने कंपनी के अफ़सरों को गिरफ़्तार कर लिया, गोदाम पर ताला डाल दिया, अंग्रेज़ों के हथियार छीन लिए और अंग्रेज़ जहाज़ों को घेरे में ले लिया। इसके बाद नवाब ने कंपनी के कलकत्ता स्थित किले पर कब्ज़े के लिए उधर का रुख किया।

कलकत्ता के हाथ से निकल जाने की ख़बर सुनने पर मद्रास में तैनात कंपनी के अफ़सरों ने भी रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में सेनाओं को रवाना कर दिया। इस सेना को नौसैनिक बेड़े की मदद भी मिल रही थी। इसके बाद

क्या आप जानते थे?

क्या आप जानते थे कि प्लासी का यह नाम किस तरह पड़ा? दरअसल असली नाम पलाशी था जिसे अंग्रेज़ों ने बिगाड़ कर प्लासी कर दिया था। इस जगह को पलाशी यहाँ पाए जाने वाले पलाश के फूलों के कारण कहा जाता था। पलाश के खूबसूरत लाल फूलों से गुलाल बनाया जाता है जिसका होली पर इस्तेमाल होता है।
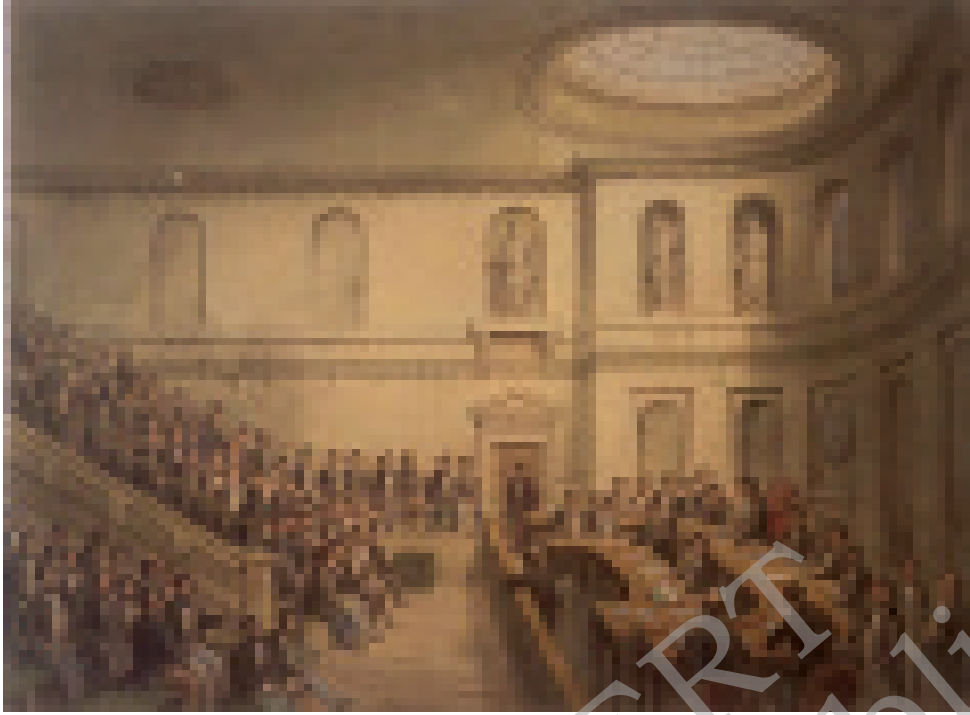
चित्र 5 – महान्यायालय कक्ष, ईस्ट इंडिया हाउस, लेडनहॉल स्ट्रीट।

ईस्ट इंडिया कंपनी के कोर्ट ऑफ प्रॉपराइटर्स की लंदन स्थित लेडनहॉल स्ट्रीट पर बने ईस्ट इंडिया हाउस में बैठकें होती थीं। यह ऐसी ही एक सभा का चित्र है।

नवाब के साथ लंबे समय तक सौदेबाजी चली। आखिरकार 1757 में रॉबर्ट क्लाइव ने प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला के ख़िलाफ़ कंपनी की सेना का नेतृत्व किया। नवाब सिराजुद्दौला की हार का एक बड़ा कारण उसके सेनापतियों में से एक सेनापति मीर जाफ़र की कारगुजारियाँ भी थीं। मीर जाफ़र की टुकड़ियों ने इस युद्ध में हिस्सा नहीं लिया। रॉबर्ट क्लाइव ने यह कहकर उसे अपने साथ मिला लिया था कि सिराजुद्दौला को हटा कर मीर जाफ़र को नवाब बना दिया जाएगा।

स्रोत 1

संपन्नता का आश्वासन

इंग्लैंड के लोग ईस्ट इंडिया कंपनी की शासकीय महत्वाकांक्षाओं को संदेह और अविश्वास से देखते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद रॉबर्ट क्लाइव ने अंग्रेज़ सम्राट के एक मुख्य विदेश मंत्री विलियम पिट को 7 जनवरी 1759 को कलकत्ते से यह चिट्ठी भेजी थी :

> लेकिन इतनी विशाल सत्ता एक वाणिज्यिक कंपनी के लिए बहुत बड़ी बात होगी... मैं खुद यह सोच कर अभिभूत हूँ... कि इन समृद्ध रियासतों पर पूरा कब्ज़ा हासिल करने में कोई परेशानी नहीं आएगी : ... अब मैं यह फैसला आप पर छोड़ता हूँ कि क्या सालाना बीस लाख स्टर्लिंग की आमदनी और तीन प्रांतों का कब्ज़ा... कोई ऐसी चीज़ है जिस पर इतना शोर मचाना उचित हो...।

स्रोत 2

नवाब की शिकायतें

1733 में बंगाल के नवाब ने इंग्लिश व्यापारियों के बारे में यह कहा था:

> जब वे पहली बार हमारे देश में आए थे तो उन्होंने सरकार के सामने विनती करते हुए कहा था कि उन्हें एक फैक्टरी बनाने के लिए थोड़ी-सी ज़मीन दे दी जाए। उन्हें वह ज़मीन तो मिल गई पर उन्होंने तो वहाँ मज़बूत क़िला ही खड़ा कर डाला। इसके चारों तरफ गड्ढे बना दिये जो नदी से जुड़ते हैं। दीवारों पर उन्होंने न जाने कितनी तोपें तैनात कर दी हैं। उन्होंने बहुत सारे सौदागरों और अन्य लोगों को अपने मातहत रहने के लिए तैयार कर लिया है और वह एक लाख रुपये राजस्व वसूल कर रहे हैं.... वे असंख्य औरतों और मर्दों को उनके ही देश में ग़ुलाम बनाकर लूट-खसोट रहे हैं।

प्लासी की जंग इसलिए महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि भारत में यह कंपनी की पहली बड़ी जीत थी।

प्लासी की जंग के बाद सिराजुद्दौला को मार दिया गया और मीर जाफर नवाब बना। कंपनी अभी भी शासन की ज़िम्मेदारी सँभालने को तैयार नहीं थी। उसका मूल उद्देश्य तो व्यापार को फैलाना था। अगर यह काम स्थानीय शासकों की मदद से बिना लड़ाई लड़े ही किया जा सकता था तो किसी राज्य को सीधे अपने कब्ज़े में लेने की क्या ज़रूरत थी।

जल्दी ही कंपनी को एहसास होने लगा कि यह रास्ता भी आसान नहीं है। कठपुतली नवाब भी हमेशा कंपनी के इशारों पर नहीं चलते थे। आखिरकार उन्हें भी तो अपनी प्रजा की नज़र में सम्मान और संप्रभुता का दिखावा करना पड़ता था।

तो फिर कंपनी क्या करती? जब मीर जाफ़र ने कंपनी का विरोध किया तो कंपनी ने उसे हटाकर मीर कासिम को नवाब बना दिया। जब मीर कासिम परेशान करने लगा तो बक्सर की लड़ाई (1764) में उसको भी हराना पड़ा। उसे बंगाल से बाहर कर दिया गया और मीर जाफर को दोबारा नवाब बनाया गया। अब नवाब को हर महीने पाँच लाख रुपए कंपनी को चुकाने थे। कंपनी अपने सैनिक खर्चों से निपटने, व्यापारिक ज़रूरतों तथा अन्य खर्चों को पूरा करने के लिए और पैसा चाहती थी। कंपनी और ज़्यादा इलाके तथा और ज़्यादा कमाई चाहती थी। 1765 में जब मीर जाफ़र की मृत्यु हुई तब तक कंपनी के इरादे बदल चुके थे। कठपुतली नवाबों के साथ अपने खराब अनुभवों को देखते हुए क्लाइव ने ऐलान किया कि अब "हमें खुद ही नवाब बनना पड़ेगा।"

आख़िरकार 1765 में मुग़ल सम्राट ने कंपनी को ही बंगाल प्रांत का दीवान नियुक्त कर दिया। दीवानी मिलने के कारण कंपनी को बंगाल के विशाल राजस्व संसाधनों पर नियंत्रण मिल गया था। इस तरह कंपनी की एक पुरानी समस्या हल हो गयी थी। अठारहवीं सदी की शुरुआत से ही भारत के साथ उसका व्यापार बढ़ता जा रहा था। लेकिन उसे भारत में ज़्यादातर चीज़ें ब्रिटेन से लाए गए सोने और चाँदी के बदले में ख़रीदनी पड़ती थीं। इसकी वजह ये थी कि उस समय ब्रिटेन के पास भारत में बेचने के लिए कोई चीज़ नहीं थी। प्लासी की जंग के बाद ब्रिटेन से सोने की निकासी कम होने लगी और बंगाल की दीवानी मिलने के बाद तो ब्रिटेन से सोना लाने की ज़रूरत ही नहीं रही। अब भारत से होने वाली आमदनी के सहारे ही कंपनी अपने खर्चे चला सकती थी। इस कमाई से कंपनी भारत में सूती और रेशमी कपड़ा ख़रीद सकती थी, अपनी फौजों को सँभाल सकती थी और कलकत्ते में किलों और दफ़्तरों के निर्माण की लागत उठा सकती थी।

कंपनी के अफ़सर 'नबॉब' बन बैठे

नवाब बनने का क्या मतलब था? इसका एक मतलब तो यही था कि कंपनी के पास अब सत्ता और ताकत थी। लेकिन इसके कुछ और फायदे भी थे। कंपनी का हर कर्मचारी नवाबों की तरह जीने के ख्वाब देखने लगा था।

प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल के असली नवाबों को इस बात के लिए बाध्य कर दिया गया कि वे कंपनी के अफ़सरों को निजी तोहफे के तौर पर ज़मीन और बहुत सारा पैसा दें। खुद रॉबर्ट क्लाइव ने ही भारत में बेहिसाब दौलत जमा कर ली थी। 1743 में जब वह इंग्लैंड से मद्रास (अब चेन्नई) आया था तो उसकी उम्र 18 साल थी। 1767 में जब वह दो बार गवर्नर बनने के बाद हमेशा के लिए भारत से रवाना हुआ तो यहाँ उसकी दौलत 401,102 पौंड के बराबर थी। दिलचस्प बात यह है कि गवर्नर के अपने दूसरे कार्यकाल में उसे कंपनी के भीतर फैले भ्रष्टाचार को खत्म करने का काम सौंपा गया था। लेकिन 1772 में ब्रिटिश संसद में उसे खुद भ्रष्टाचार के आरोपों पर अपनी सफ़ाई देनी पड़ी। सरकार को उसकी अकूत संपत्ति के स्रोत संदेहास्पद लग रहे थे। उसे भ्रष्टाचार आरोपों से बरी तो कर दिया गया लेकिन 1774 में उसने आत्महत्या कर ली।

कंपनी के सभी अफ़सर क्लाइव की तरह दौलत इकट्ठा नहीं कर पाए। बहुत सारी बीमारियों और लड़ाई के कारण कम उम्र में ही मौत का निवाला बन गए। इसके अलावा उन सभी को भ्रष्ट और बेईमान मानना भी सही नहीं होगा। उनमें से बहुत सारे अफ़सर साधारण परिवारों से आए थे। उनकी सबसे बड़ी इच्छा बस यही थी कि वे भारत में ठीक-ठाक पैसा कमाएँ और ब्रिटेन लौटकर आराम की ज़िंदगी बसर करें। जो जीते जी धन-दौलत लेकर वापस लौट गए उन्होंने वहाँ आलीशान जीवन जिया। उन्हें वहाँ के लोग "नबॉब" कहते थे। यह भारतीय शब्द 'नवाब' का ही अंग्रेज़ी संस्करण बन गया था। उन्हें लोग अकसर नए अमीरों और सामाजिक हैसियत में रातों-रात ऊपर आने वाले लोगों के रूप में देखते थे। नाटकों और कार्टूनों में उनका मज़ाक उड़ाया जाता था।

कंपनी का फैलता शासन

यदि हम 1757 से 1857 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा भारतीय राज्यों पर कब्ज़े की प्रक्रिया को देखें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। किसी अनजान इलाके में कंपनी ने सीधे सैनिक हमला प्रायः नहीं किया। उसने किसी भी भारतीय रियासत का अधिग्रहण करने से पहले विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया।

बक्सर की लड़ाई (1764) के बाद कंपनी ने भारतीय रियासतों में रेज़िडेंट तैनात कर दिये। ये कंपनी के राजनीतिक या व्यावसायिक प्रतिनिधि होते थे। उनका काम कंपनी के हितों की रक्षा करना और उन्हें आगे बढ़ाना था। रज़िडेंट के माध्यम से कंपनी के अधिकारी भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में भी दखल देने लगे थे। अगला राजा कौन होगा, किस पद पर किसको बिठाया जाएगा, इस तरह की चीज़ें भी कंपनी के अफ़सर ही तय करना चाहते थे। कई बार कंपनी ने रियासतों पर "सहायक संधि" भी थोप दी। जो रियासत इस बंदोबस्त को मान लेती थी उसे अपनी स्वतंत्र सेनाएँ रखने का अधिकार नहीं रहता था। उसे कंपनी की तरफ से सुरक्षा मिलती

स्रोत 3

क्लाइव खुद को कैसे देखता था?

संसद की एक समिति के सामने सुनवाई के दौरान क्लाइव ने कहा था कि प्लासी की लड़ाई के बाद उसने ज़बरदस्त संयम का परिचय दिया। आइए देखें उसने क्या कहा:

> उस स्थिति की कल्पना कीजिए जहाँ प्लासी की जीत ने मुझे ला खड़ा कर दिया था! एक ताकतवर राजा मेरे इशारों पर चल रहा था; एक संपन्न शहर मेरी दया पर था। उसके सबसे दौलतमंद महाजन मेरी एक-एक मुस्कुराहट के लिए एक-दूसरे की गिरेबान खींच रहे थे। मैं ऐसे खज़ानों के बीच से गुज़र रहा था जो सिर्फ़ मेरे लिए खुले हुए थे, एक तरफ सोना और दूसरी तरफ जवाहरात थे! अध्यक्ष महोदय, मैं अपने इस संयम को देखकर खुद हैरान हूँ।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी के एक युवा अफ़सर हैं और कुछ महीने के लिए भारत आए हैं। अब इंग्लैंड में रहने वाली अपनी माँ के नाम एक चिट्ठी लिखकर उन्हें अपनी ऐशो-आराम भरी ज़िंदगी के बारे में बताएँ और उसकी तुलना ब्रिटेन में अपने पुराने जीवन से करें।

चित्र 6 – अपने बेटों और ब्रिटिश रेज़िडेन्ट के साथ खड़े नवाब शुजाउद्दौला, टिली कैटल द्वारा बनाया चित्र (तैल, 1772)।

बक्सर की लड़ाई के बाद हुई संधियों के फलस्वरूप नवाब शुजाउद्दौला के ज़्यादातर अधिकार छिन गए थे लेकिन यहाँ वह रेज़िडेन्ट के सामने अपनी चिर-परिचित शाही शानो-शौकत के साथ दिखाई दे रहे हैं।

थी और "सहायक सेना" के रखरखाव के लिए वह कंपनी को पैसा देती थी। अगर भारतीय शासक रकम अदा करने में चूक जाते थे तो जुर्माने के तौर पर उनका इलाका कंपनी अपने कब्ज़े में ले लेती थी। उदाहरण के लिए, जब रिचर्ड वेलेज़्ली गवर्नर-जनरल (1798-1805) था, उस समय अवध के नवाब को 1801 में अपना आधा इलाका कंपनी को सौंपने के लिए मजबूर किया गया क्योंकि नवाब "सहायक सेना" के लिए पैसा अदा करने में चूक गए थे। इसी आधार पर हैदराबाद के भी कई इलाके छीन लिए गए।

स्रोत 4

रेज़िडेन्ट की ताकत क्या होती थी?

कंपनी द्वारा नियुक्त किए गए रेज़िडेन्ट्स के बारे में स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक जेम्स मिल ने यह कहा था :

> दरअसल रेज़िडेन्ट रियासत का राजा होता है। हम उसे अहस्तक्षेप की मनचाही **निषेधाज्ञा** के तहत काम करने की छूट देते हैं। जब तक स्थानीय राजा पूरी तरह **अधीनस्थ** रहता है और रेज़िडेन्ट यानी ब्रिटिश सरकार के माफ़िक काम करता है तो चीज़ें आराम से चलती रहती हैं। शासन के कामों में रेज़िडेन्ट की दखलंदाजी के बिना सब कुछ चल जाता है.... जब भी कुछ अलग तरह का घटता है, जब भी राजा कोई ऐसा रास्ता अपनाता है जिसे ब्रिटिश सरकार गलत मानती है तो टकराव और उथल-पुथल पैदा हो जाती है।

जेम्स मिल (1832)

निषेधाज्ञा – निर्देश।
अधीनस्थता – दब्बूपन

टीपू सुल्तान – "शेर-ए-मैसूर"

जब कंपनी को अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों पर खतरा दिखाई दिया तो कंपनी ने प्रत्यक्ष सैनिक टकराव का रास्ता भी अपनाया। दक्षिण भारतीय राज्य मैसूर के उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है।

हैदर अली (शासन काल 1761 से 1782) और उनके विख्यात पुत्र टीपू सुल्तान (शासन काल 1782 से 1799) जैसे शक्तिशाली शासकों के नेतृत्व में मैसूर काफी ताकतवर हो चुका था। मालाबार तट पर होने वाला व्यापार मैसूर रियासत के नियंत्रण में था जहाँ से कंपनी काली मिर्च और इलायची ख़रीदती थी। 1785 में टीपू सुल्तान ने अपनी रियासत में पड़ने वाले बंदरगाहों से चंदन की लकड़ी, काली मिर्च और इलायची का निर्यात रोक दिया। सुल्तान ने स्थानीय सौदागरों को भी कंपनी के साथ कारोबार करने से रोक दिया था। टीपू सुल्तान ने भारत में रहने वाले फ़्रांसीसी व्यापारियों से घनिष्ठ संबंध विकसित किए और उनकी मदद से अपनी सेना का आधुनिकीकरण किया।

चित्र 7 – टीपू सुल्तान।

चित्र 8 – टीपू सुल्तान के बेटों को बंधक के रूप में कॉर्नवालिस के सामने पेश किया जा रहा है। डेनियल ऑर्म द्वारा चित्रित, 1793.

कंपनी की फौजों को हैदर अली और टीपू सुल्तान ने कई बार युद्ध में हराया था। लेकिन 1792 में मराठों, हैदराबाद के निज़ाम और कंपनी की संयुक्त फौजों के हमले के बाद टीपू सुल्तान को अंग्रेज़ों से संधि करनी पड़ी। इस संधि के तहत उनके दो बेटों को अंग्रेज़ों ने बंधक के रूप में अपने पास रख लिया। ब्रिटिश चित्रकारों को ऐसे दृश्यों की तसवीर बनाने में मज़ा आता था जिनमें अंग्रेज़ों की सत्ता की विजय दिखाई देती थी।

सुल्तान के इन कदमों से अंग्रेज़ आग-बबूला हो गए। उन्हें हैदर अली और टीपू सुल्तान बहुत महत्वाकांक्षी, घमण्डी और ख़तरनाक दिखाई देते थे। अंग्रेज़ों को लगता था कि ऐसे राजाओं को नियंत्रित करना और कुचलना ज़रूरी है। फलस्वरूप, मैसूर के साथ अंग्रेज़ों की चार बार जंग हुई (1767-69, 1780-84, 1790-92 और 1799)। श्रीरंगपट्म की आखिरी जंग में कंपनी को सफलता मिली। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए टीपू सुल्तान मारे गए और मैसूर का राजकाज पुराने वोडियार राजवंश के हाथों में सौंप दिया गया। इसके साथ ही मैसूर पर भी सहायक संधि थोप दी गई।

टीपू की कहानियाँ

राजाओं की छवि अकसर जनश्रुतियों से भी बनती है। प्रचलित किस्सों में उनकी ताकत का खूब यशगान किया जाता है। 1782 में मैसूर के राजा बने टीपू सुल्तान के बारे में कहा जाता है कि एक बार वे अपने फ़्रांसीसी दोस्त के साथ जंगल में शिकार खेलने गए थे। वहाँ एक शेर उनके सामने आ गया। उनकी बंदूक ने मौके पर साथ नहीं दिया और कटार भी ज़मीन पर गिर गई। फिर भी टीपू ने निहत्थे ही शेर का मुकाबला किया और आखिरकार कटार उठा ली। अंत में उन्होंने शेर को मार गिराया। इसी के बाद से उन्हें "शेर-ए-मैसूर" कहा जाने लगा था। उनके राजसी झंडे पर भी शेर की तसवीर होती थी।

चित्र 9 – टीपू का खिलौना शेर।

यह टीपू के एक विशालकाय मशीनी खिलौने की तसवीर है। इसमें यह नकली शेर एक यूरोपीय सिपाही को दबाए हुए है। जब इसका हैण्डल घुमाया जाता था तो नकली शेर दहाड़ता था और सिपाही के भीतर से चीख की आवाजें आती थीं। अब यह खिलौना शेर लंदन स्थित विक्टोरिया एंड एल्बर्ट म्यूज़ियम में रखा है। 4 मई 1799 को जब अपनी राजधानी श्रीरंगपट्म की रक्षा करते हुए टीपू सुल्तान की मृत्यु हो गई तो अंग्रेज़ इस खिलौने को भी अपने साथ ले गए।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आपको श्रीरंगपट्म के युद्ध और टीपू सुल्तान की मौत के बारे में ख़बर देने वाले दो पुराने अख़बार मिलते हैं। एक अख़बार ब्रिटेन का है और दूसरा मैसूर का है। दोनों अख़बारों के लिए इन घटनाओं के बारे में एक-एक सुर्ख़ी लिखिए।

कन्फ़ेडरेसी – गठबंधन
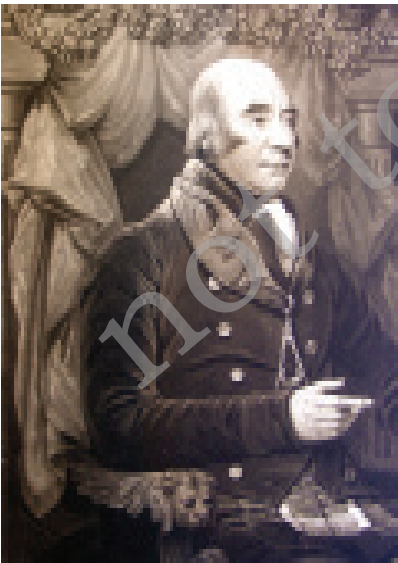
मराठों से लड़ाई

अठारहवीं शताब्दी के आखिर से कंपनी मराठों की ताकत को भी क़ाबू और खत्म करने के बारे में सोचने लगी थी। 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई में हार के बाद दिल्ली से देश का शासन चलाने का मराठों का सपना चूर-चूर हो गया। उन्हें कई राज्यों में बाँट दिया गया। इन राज्यों की बागडोर सिंधिया, होलकर, गायकवाड और भोंसले जैसे अलग-अलग राजवंशों के हाथों में थी। ये सारे सरदार एक पेशवा (सर्वोच्च मंत्री) के अंतर्गत एक **कन्फ़ेडरेसी**(राज्यमण्डल) के सदस्य थे। पेशवा इस राज्यमण्डल का सैनिक और प्रशासकीय प्रमुख होता था और पुणे में रहता था। महाद्जी सिंधिया और नाना फड़नीस अठारहवीं सदी के आखिर के दो प्रसिद्ध मराठा योद्धा और राजनीतिज्ञ थे।

एक के बाद एक कई युद्धों में कंपनी ने मराठों को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। पहला युद्ध 1782 में सालबाई संधि के साथ खत्म हुआ जिसमें कोई पक्ष नहीं जीत पाया। दूसरा अंग्रेज़-मराठा युद्ध (1803-05) कई मोर्चों पर लड़ा गया। इसका नतीजा यह हुआ कि उड़ीसा और यमुना के उत्तर में स्थित आगरा व दिल्ली सहित कई भूभाग अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गए। अंतत:, 1817-19 के तीसरे अंग्रेज़-मराठा युद्ध में मराठों की ताकत को पूरी तरह कुचल दिया गया। पेशवा को पुणे से हटाकर कानपुर के पास बिठूर में पेंशन पर भेज दिया गया। अब विंध्य के दक्षिण में स्थित पूरे भूभाग पर कंपनी का नियंत्रण हो चुका था।

सर्वोच्चता का दावा

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से कंपनी क्षेत्रीय विस्तार की आक्रामक नीति पर चल रही थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स (1813 से 1823 तक गवर्नर-जनरल) के नेतृत्व में "सर्वोच्चता" की एक नयी नीति शुरू की गई। कंपनी का दावा था कि उसकी सत्ता सर्वोच्च है इसलिए वह भारतीय राज्यों से ऊपर है। अपने हितों की रक्षा के लिए वह भारतीय रियासतों का अधिग्रहण करने या उनको अधिग्रहण की धमकी देने का अधिकार अपने पास मानती थी। यह सोच बाद में भी अंग्रेज़ों की नीतियों में दिखाई देती रही।

चित्र 10 – लॉर्ड हेस्टिंग्स।

लेकिन यह प्रक्रिया बेरोकटोक नहीं चली। उदाहरण के लिए, जब अंग्रेज़ों ने कित्तूर (फिलहाल कर्नाटक में) के छोटे से राज्य को कब्ज़े में लेने का प्रयास किया तो रानी चेन्नम्मा ने हथियार उठा लिए और अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ दिया। 1824 में उन्हें गिरफ़्तार किया गया और 1829 में जेल में ही उनकी मृत्यु हो गई। चेन्नम्मा के बाद कित्तूर स्थित संगोली के एक गरीब चौकीदार रायन्ना ने यह प्रतिरोध जारी रखा। चौतरफा समर्थन और सहायता से उन्होंने बहुत सारे ब्रिटिश शिविरों और दस्तावेज़ों को नष्ट कर दिया था। आखिरकार उन्हें भी अंग्रेज़ों ने पकड़कर 1830 में फाँसी पर लटका दिया। प्रतिरोध के ऐसे कई दूसरे उदाहरण आप इस किताब में आगे पढ़ेंगे।

1830 के दशक के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी रूस के प्रभाव से बहुत डरी हुई थी। कंपनी को भय था कि कहीं रूस का प्रभाव पूरे एशिया में फैलकर उत्तर-पश्चिम से भारत को भी अपनी चपेट में न ले ले। इसी डर के चलते अंग्रेज़ अब उत्तर-पश्चिमी भारत पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने 1838 से 1842 के बीच अफगानिस्तान के साथ एक लंबी लड़ाई लड़ी और वहाँ अप्रत्यक्ष कंपनी शासन स्थापित कर लिया। 1843 में सिंध भी कब्ज़े में आ गया। इसके बाद पंजाब की बारी थी। यहाँ महाराजा रणजीत सिंह ने कंपनी की दाल नहीं गलने दी। 1839 में उनकी मृत्यु के बाद इस रियासत के साथ दो लंबी लड़ाइयाँ हुईं और आखिरकार 1849 में अंग्रेज़ों ने पंजाब का भी अधिग्रहण कर लिया।

चित्र 11 – महाराजा रणजीत सिंह का दरबार।

विलय नीति

अधिग्रहण की आखिरी लहर 1848 से 1856 के बीच गवर्नर-जनरल बने लॉर्ड डलहौज़ी के शासन काल में चली। लॉर्ड डलहौज़ी ने एक नयी नीति अपनाई जिसे विलय नीति का नाम दिया गया। यह सिद्धांत इस तर्क पर आधारित था कि अगर किसी शासक की मृत्यु हो जाती है और उसका कोई पुरुष वारिस नहीं है तो उसकी रियासत हड़प कर ली जाएगी यानी कंपनी के भूभाग का हिस्सा बन जाएगी। इस सिद्धांत के आधार पर एक के बाद एक कई रियासतें – सतारा (1848), संबलपुर (1850), उदयपुर (1852), नागपुर (1853) और झाँसी (1854) – अंग्रेज़ों के हाथ में चली गईं।

आखिरकार 1856 में कंपनी ने अवध को भी अपने नियंत्रण में ले लिया। इस बार अंग्रेज़ों ने एक नया तर्क दिया। उन्होंने कहा कि वे अवध की जनता को नवाब के "कुशासन" से आज़ाद कराने के लिए "कर्तव्य से बँधे" हुए हैं इसलिए वे अवध पर कब्ज़ा करने को मजबूर हैं! अपने प्रिय नवाब को जिस तरह से गद्दी से हटाया गया, उसे देखकर लोगों में गुस्सा भड़क उठा और अवध के लोग भी 1857 के महान विद्रोह में शामिल हो गए।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप नवाब के भतीजे हैं। आपको बचपन से ही यह एहसास कराया गया है कि एक दिन आप राजगद्दी सँभालेंगे। अब आपको पता चलता है कि विलय नीति के कारण अंग्रेज़ आपको राजा नहीं बनने देंगे। आपको कैसा लगेगा? राजगद्दी पाने के लिए आप क्या करेंगे?
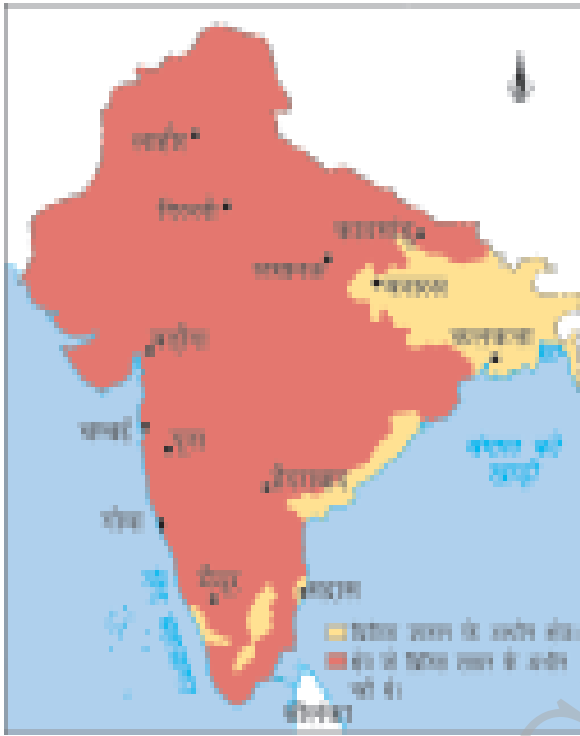
चित्र 11 (a)
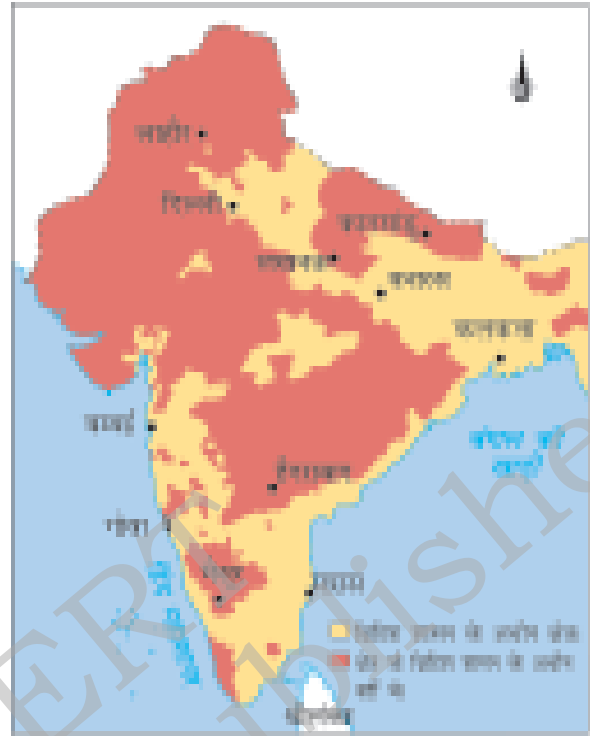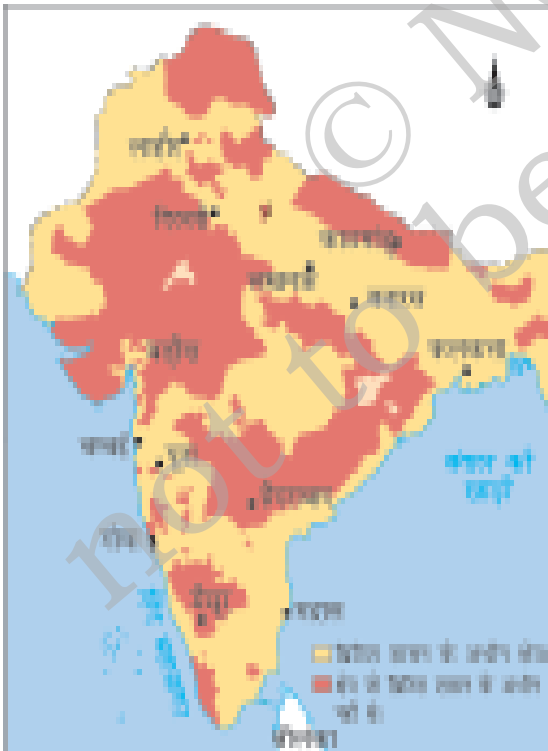
चित्र 11 (b)

चित्र 11 (c)

***चित्र 11 (a), (b), (c)** – भारत में अंग्रेज़ों की फैलती सत्ताएँ।*
इन नक्शों को भारत के वर्तमान राजनीतिक नक्शे के साथ रखकर देखें। तीनों नक्शों में उन इलाकों की पहचान करें जो ब्रिटिश शासन के अंतर्गत नहीं थे।

नए शासन की स्थापना

गवर्नर-जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स (1773-1785) उन बहुत सारे महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से था जिन्होंने कंपनी की ताकत फैलाने में अहम भूमिका अदा की थी। वॉरेन हेस्टिंग्स के समय तक आते-आते कंपनी न केवल बंगाल बल्कि बम्बई और मद्रास में भी सत्ता हासिल कर चुकी थी। ब्रिटिश इलाके मोटे तौर पर प्रशासकीय इकाइयों में बँटे हुए थे जिन्हें प्रेज़िडेंसी कहा जाता था। उस समय तीन प्रेज़िडेंसी थीं – बंगाल, मद्रास और बम्बई। हरेक का शासन गवर्नर के पास होता था। सबसे ऊपर गवर्नर-जनरल होता था। वॉरेन हेस्टिंग्स ने कई प्रशासकीय सुधार किए। न्याय के क्षेत्र में उसके सुधार ख़ासतौर से उल्लेखनीय थे।

1772 से एक नयी न्याय व्यवस्था स्थापित की गई। इस व्यवस्था में प्रावधान किया गया कि हर जिले में दो अदालतें होंगी – फ़ौजदारी अदालत और दीवानी अदालत। दीवानी अदालतों के मुखिया यूरोपीय ज़िला कलेक्टर होते थे। मौलवी और हिंदू पंडित उनके लिए भारतीय कानूनों की व्याख्या करते थे। फ़ौजदारी अदालतें अभी भी **काज़ी** और **मुफ़्ती** के ही अंतर्गत थीं लेकिन वे भी कलेक्टर की निगरानी में काम करते थे।

काज़ी – एक न्यायाधीश।

मुफ़्ती – मुसलिम समुदाय का एक न्यायविद जो कानूनों की व्याख्या करता है। काज़ी इसी व्याख्या के आधार पर फ़ैसले सुनाता है।

महाभियोग – जब इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमंस में किसी व्यक्ति के ख़िलाफ़ दुराचरण का आरोप लगाया जाता है तो हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स (संसद का ऊपरी सदन) में उस व्यक्ति के ख़िलाफ़ मुकदमा चलता है। इसे महाभियोग कहा जाता है।

चित्र 12 – वॉरेन हेस्टिंग्स पर मुकदमा, आर.जी. पॉलार्ड द्वारा चित्रित, 1789.

जब वॉरेन हेस्टिंग्स 1785 में इंग्लैंड लौटा तो ऐडमंड बर्के ने उस पर बंगाल का शासन सही ढंग से न चलाने का आरोप जड़ दिया। इस आरोप के चलते हेस्टिंग्स पर ब्रिटिश संसद में **महाभियोग** का मुकदमा चलाया गया जो सात साल चला।

स्रोत 5

"मैं सबके शत्रु और उत्पीड़क पर महाभियोग चला रहा हूँ।"

वॉरेन हेस्टिंग्स के महाभियोग की कार्रवाई के दौरान ऐडमंड बर्क ने एक उत्तेजनापूर्ण भाषण दिया जिसका एक हिस्सा इस प्रकार था :

> मैं उनके (हेस्टिंग्स के) ऊपर भारत के लोगों की ओर से महाभियोग चला रहा हूँ जिनके अधिकारों को उन्होंने पैरों तले रौंद दिया और जिनके देश को उन्होंने रेगिस्तान बना दिया है। अंत में, मानव स्वभाव के नाम पर, स्त्री-पुरुष के नाम पर, हर उम्र के नाम पर, हर ओहदे के नाम पर मैं सबके साझा शत्रु और सबके उत्पीड़क पर महाभियोग चला रहा हूँ।

धर्मशास्त्र – संस्कृत की ऐसी कृतियाँ जिनमें सामाजिक तौर-तरीकों और आचरण के सिद्धांतों की व्याख्या की जाती है। ये धर्मशास्त्र ईसा पूर्व 500 वर्ष से भी पहले लिखे गए थे।

सवार – घुड़सवार

मस्केट - पैदल सिपाहियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली एक भारी बंदूक।

मैचलॉक – शुरुआती दौर की बंदूक जिसमें बारूद को माचिस से चिंगारी दी जाती थी।

एक बड़ी समस्या यह थी कि ब्राह्मण पंडित **धर्मशास्त्र** की अलग-अलग शाखाओं के हिसाब से स्थानीय कानूनों की अलग-अलग व्याख्या कर देते थे। इस भिन्नता को खत्म करके समरूपता लाने के लिए 1775 में 11 पंडितों को भारतीय कानूनों का एक संकलन तैयार करने का काम सौंपा गया। एन. बी. हालहेड ने इस संकलन का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। 1778 तक यूरोपीय न्यायाधीशों के लिए मुसलिम कानूनों की भी एक संहिता तैयार कर ली गई थी। 1773 के रेग्युलेटिंग ऐक्ट के तहत एक नए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इसके अलावा कलकत्ता में अपीलीय अदालत – सदर निज़ामत अदालत – की भी स्थापना की गई।

भारतीय जिले में कलेक्टर सबसे बड़ा ओहदा होता था। जैसा कि नाम से ही पता चलता है, उसका मुख्य काम लगान और कर इकट्ठा करना तथा न्यायाधीशों, पुलिस अधिकारियों व दारोगा की सहायता से ज़िले में कानून-व्यवस्था बनाए रखना होता था। उसका कार्यालय – कलेक्टरेट – सत्ता और संरक्षण का नया केंद्र बन गया था जिसने पुराने सत्ता केंद्रों को हाशिये पर ढकेल दिया।

कंपनी की फ़ौज

कंपनी के साथ भारत में शासन और सुधार के नए विचार तो आए लेकिन उसकी असली सत्ता सैनिक ताकत में थी। मुग़ल फ़ौज मुख्य रूप से घुड़सवार (**सवार :** घोड़े पर चलने वाले प्रशिक्षित) और पैदल सेना थी। उन्हें तीरंदाजी और तलवारबाज़ी का प्रशिक्षण दिया जाता था। सेना में सवारों का दबदबा रहता था और मुग़ल साम्राज्य को एक विशाल पेशेवर प्रशिक्षण वाली पैदल सेना की ज़रूरत महसूस नहीं होती थी। ग्रामीण इलाकों में सशस्त्र किसानों की बड़ी संख्या थी। स्थानीय ज़मींदार मुग़लों को ज़रूरत पड़ने पर पैदल सिपाही मुहैया कराते थे।

अठारहवीं सदी में जब अवध और बनारस जैसी रियासतों में किसानों को भर्ती करके उन्हें पेशेवर सैनिक प्रशिक्षण दिया जाने लगा तो यह सूरत बदलने लगी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने जब अपनी सेना के लिए भर्ती शुरू की तो उसने भी यही तरीका अपनाया। अंग्रेज़ अपनी सेना को सिपॉय (जो भारतीय शब्द 'सिपाही' से ही बना है) आर्मी कहते थे।

1820 के दशक से जैसे-जैसे युद्ध तकनीक बदलने लगी कंपनी की सेना में घुड़सवार टुकड़ियों की ज़रूरत कम होती गई। इसकी वजह यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य बर्मा, अफ़गानिस्तान और मिस्र में भी लड़ रहा था जहाँ सिपाही **मस्केट** (तोड़ेदार बंदूक) और **मैचलॉक** से लैस होते थे। कंपनी की सेना के सिपाहियों को बदलती सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता था और अब उसकी पैदल टुकड़ी ज़्यादा महत्वपूर्ण होती जा रही थी।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में अंग्रेज़ एक समरूप सैनिक संस्कृति विकसित करने लगे थे। सिपाहियों को यूरोपीय ढंग का प्रशिक्षण, अभ्यास और अनुशासन सिखाया जाने लगा। अब उनका जीवन पहले से भी ज़्यादा

चित्र 13 – कंपनी के लिए काम करने वाला बंगाल का एक सवार, एक अज्ञात भारतीय चित्रकार द्वारा बनाया गया चित्र, 1780.

मराठों और मैसूर के साथ हुए युद्धों के बाद कंपनी को अपनी घुड़सवार टुकड़ियों को मज़बूत करने की अहमियत समझ में आने लगी थी।

नियंत्रित था। इस कोशिश में कभी–कभी समस्याएँ भी आ जाती थीं क्योंकि पेशेवर सिपाहियों की सेना खड़ा करने के चक्कर में अंग्रेज़ कई बार जाति और समुदाय की भावनाओं को नज़रअंदाज़ कर देते थे। भला लोग अपनी जातीय और धार्मिक भावनाओं को इतनी आसानी से कैसे छोड़ सकते थे? क्या वे खुद को अपने समुदाय का सदस्य मानने की बजाय सिर्फ़ सिपाही मान सकते थे?

सिपाही क्या महसूस करते थे? अपने जीवन और अपनी पहचान, यानी वे कौन हैं, इस बात के अहसास में जो बदलाव आ रहे थे उनको सिपाहियों ने किस तरह देखा? 1857 का विद्रोह हमें सिपाहियों की इस दुनिया की झलक दिखाता है। इस विद्रोह के बारे में आप अध्याय 5 में पढ़ेंगे।

निष्कर्ष

ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से बढ़ते–बढ़ते एक भौगोलिक औपनिवेशिक शक्ति बन गई। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में नयी भाप तकनीक के आने से यह प्रक्रिया और तेज़ हुई। तब तक समुद्र मार्ग से भारत पहुँचने में 6–8 माह का समय लग जाता था। भाप से चलने वाले जहाज़ों ने यह यात्रा तीन हफ़्तों में समेट दी। इसके बाद तो ज़्यादा से ज़्यादा अंग्रेज़ और उनके परिवार भारत जैसे दूर देश में आने लगे।

1857 तक भारतीय उपमहाद्वीप के 63 प्रतिशत भूभाग और 78 प्रतिशत आबादी पर कंपनी का सीधा शासन स्थापित हो चुका था। देश के शेष भूभाग और आबादी पर कंपनी का अप्रत्यक्ष प्रभाव था। इस प्रकार, व्यावहारिक स्तर पर ईस्ट इंडिया कंपनी पूरे भारत को अपने नियंत्रण में ले चुकी थी।

अन्यत्र

दक्षिण अफ़्रीका में दास व्यापार

डच व्यापारी सत्रहवीं सदी में दक्षिण अफ़्रीका पहुँचे। जल्द ही दास व्यापार शुरू हो गया। लोगों को बंधक बनाकर जंजीरों में बाँधकर दास बाज़ारों में बेचा जाने लगा। 1834 में दास प्रथा के अन्त के समय अफ़्रीका के दक्षिणी सिरे पर स्थित केप में निजी स्वामित्व में दासों की संख्या 36,774 थी।

1824 में केप आने वाले एक यात्री ने वहाँ होने वाली नीलामी का आँखों देखा ब्योरा प्रस्तुत किया है–

"यह मालूम होने पर कि पशुओं, कृषि उत्पादों की नीलामी होने वाली है... हमने अपनी गाड़ी नए बैल खरीदने के लिए रोक ली। नीलामी के माल में एक स्त्री–दास और उसके तीन बच्चे थे। किसानों ने पशुओं के समान ही उन्हें परखा। उन्हें अलग–अलग खरीदारों को बेच दिया गया। माँ ने चिन्ता, वेदना और आँसू भरी आँखों से बच्चों की तरफ देखा। दुखी बच्चे व्याकुल माँ–बाप से चिपक गये। यह दृश्य दिल को पिघलाने वाला था। इसके विपरीत मौजूद दर्शकों के चेहरे हँसते हुये एवं असंवेदनशील थे।

नाईजल वोर्डन द्वारा लिखित, *द चेनस देट बाइंड अस : ए हिस्ट्री ऑफ सलेवरी एट द केप, 1996*

आइए कल्पना करें

आप अठाहरवी सदी के आखिर या उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में इंग्लैंड में रह रहे हैं। ब्रिटिश विजय की कहानी पर आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी? याद रखिए कि आप वहाँ जाने वाले बहुत सारे अफ़सरों की बेहिसाब कमाई के बारे में जान चुके हैं।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ

दीवानी	टीपू सुल्तान
"शेर–ए–मैसूर"	भूराजस्व वसूल करने का अधिकार
फ़ौजीदारी अदालत	सिपॉय
रानी चेन्नम्मा	भारत का पहला गवर्नर–जनरल
सिपाही	फ़ौजदारी अदालत
वॉरेन हेस्टिंग्स	कित्तूर में अंग्रेज़–विरोधी आंदोलन का नेतृत्व किया

2. रिक्त स्थान भरें

(क) बंगाल पर अंग्रेज़ों की जीत .... की जंग से शुरू हुई थी।

(ख) हैदर अली और टीपू सुल्तान .... के शासक थे।

(ग) डलहौज़ी ने .... का सिद्धांत लागू किया।

(घ) मराठा रियासतें मुख्य रूप से भारत के .... भाग में स्थित थीं।

3. सही या गलत बताएँ :

(क) मुग़ल साम्राज्य अठारहवीं सदी में मज़बूत होता गया।

(ख) इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के साथ व्यापार करने वाली एकमात्र यूरोपीय कंपनी थी।

(ग) महाराजा रणजीत सिंह पंजाब के राजा थे।

(घ) अंग्रेज़ों ने अपने कब्ज़े वाले इलाकों में कोई शासकीय बदलाव नहीं किए।

आइए विचार करें

4. यूरोपीय व्यापारिक कंपनियाँ भारत की तरफ क्यों आकर्षित हो रही थीं?

5. बंगाल के नवाबों और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच किन बातों पर विवाद थे?

6. दीवानी मिलने से ईस्ट इंडिया कंपनी को किस तरह फायदा पहुँचा?

7. ईस्ट इंडिया कंपनी टीपू सुल्तान को खतरा क्यों मानती थी?

8. "सब्सिडियरी एलायंस" (सहायक संधि) व्यवस्था की व्याख्या करें।

9. कंपनी का शासन भारतीय राजाओं के शासन से किस तरह अलग था?

10. कंपनी की सेना की संरचना में आए बदलावों का वर्णन करें।

आइए करके देखें

11. बंगाल में अंग्रेज़ों की जीत के बाद कलकत्ता एक छोटे से गाँव से बड़े शहर में तब्दील हो गया। औपनिवेशिक काल के दौरान शहर के यूरोपीय और भारतीय निवासियों की संस्कृति, शिल्प और जीवन के बारे में पता लगाएँ।

12. निम्नलिखित में से किसी के बारे में तसवीरें, कहानियाँ, कविताएँ और जानकारियाँ इकट्ठा करें – झाँसी की रानी, महादजी सिंधिया, हैदर अली, महाराजा रणजीत सिंह, लॉर्ड डलहौज़ी या आपके इलाके का कोई पुराना शासक।

3 ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना

चित्र 1 – 1765 में रॉबर्ट क्लाइव मुग़ल बादशाह से बिहार और उड़ीसा की दीवानी ग्रहण करते हुए

कंपनी दीवान बन गई

12 अगस्त 1765 को मुग़ल बादशाह ने ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल का दीवान तैनात किया। इस बात की पूरी संभावना है कि यह घटना मुट्ठी भर अंग्रेज़ों और हिंदुस्तानियों की मौजूदगी में रॉबर्ट क्लाइव के तंबू में घटी होगी। लेकिन ऊपर दिए गए चित्र में इस घटना को एक भव्य समारोह के रूप में दिखाया गया है। यह चित्र उस चित्रकार ने बनाया है जिसे रॉबर्ट क्लाइव ने अपने जीवन की यादगार घटनाओं को चित्रित करने का ज़िम्मा सौंपा था। बंगाल की दीवानी हाथ आ जाना अंग्रेज़ों के लिए निश्चय ही एक बड़ी घटना थी।

दीवान के तौर पर कंपनी अपने नियंत्रण वाले भूभाग के आर्थिक मामलों की मुख्य शासक बन गई थी। अब उसे अपनी ज़मीन का शासन चलाने और आमदनी को व्यवस्थित करने का रास्ता ढूँढ़ना था। इसके लिए उसे एक ऐसा रास्ता ढूँढ़ना था जिससे कंपनी के बढ़ते खर्चों को पूरा करने के लिए काफी आमदनी जुटाई जा सके। व्यापारिक कंपनी के नाते उसे यह खयाल भी रखना था कि वह अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदती–बेचती रहे।

समय के साथ कंपनी को यह भी समझ में आने लगा कि उसे सावधानी के साथ आगे बढ़ना होगा। बाहरी ताकत होने की वजह से उसे उन लोगों को भी शांत रखना था जो गाँव-देहात में पहले शासन चला चुके थे और जिनके पास अभी भी काफी ताकत और सम्मान था। ऐसे जो लोग स्थानीय सत्ता में रह चुके थे उन्हें नियंत्रित करना तो ज़रूरी था लेकिन उन्हें खत्म नहीं किया जा सकता था।

यह काम कैसे हो? इस अध्याय में हम देखेंगे कि कंपनी ने ग्रामीण इलाकों को उपनिवेश कैसे बनाया, आय के संसाधन कैसे जुटाए, लोगों के अधिकार किस तरह तय किए और मनमाफ़िक फ़सलों की खेती कैसे करायी?

कंपनी की आमदनी

कंपनी दीवान तो बन गई थी लेकिन अभी भी खुद को एक व्यापारी ही मानती थी। कंपनी भारी-भरकम लगान तो चाहती थी लेकिन उसके आकलन और वसूली की कोई नियमित व्यवस्था करने में हिचकिचा रही थी। उसकी कोशिश यही थी कि वह ज़्यादा से ज़्यादा राजस्व हासिल करे और कम से कम कीमत पर बढ़िया सूती और रेशमी कपड़ा ख़रीदे। इसी कारण, पाँच साल के भीतर बंगाल में कंपनी द्वारा ख़रीदी जाने वाली चीज़ों का कुल मूल्य दोगुना हो चुका था। 1865 से पहले कंपनी ब्रिटेन से सोने और चाँदी का आयात करती थी और इन चीज़ों के बदले सामान ख़रीदती थी। अब बंगाल में इकट्ठा होने वाले पैसे से ही निर्यात के लिए चीज़ें ख़रीदी जा सकती थीं।

जल्दी ही यह ज़ाहिर हो गया कि बंगाल की अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट में फँसती जा रही है। कारीगर गाँव छोड़कर भाग रहे थे क्योंकि उन्हें बहुत कम कीमत पर अपनी चीज़ें कंपनी को जबरन बेचनी पड़ती थीं। किसान अपना लगान नहीं चुका पा रहे थे। कारीगरों का उत्पादन गिर रहा था और खेती चौपट होने की दिशा में बढ़

चित्र 2 – बंगाल स्थित मुर्शिदाबाद का एक साप्ताहिक हाट।

ग्रामीण इलाकों के किसान और कारीगर अपनी चीज़ें बेचने और ज़रूरत की चीज़ें ख़रीदने के लिए नियमित रूप से बाज़ारों में आते थे। आर्थिक संकट के समय इन बाज़ारों पर बहुत बुरा असर पड़ता था।
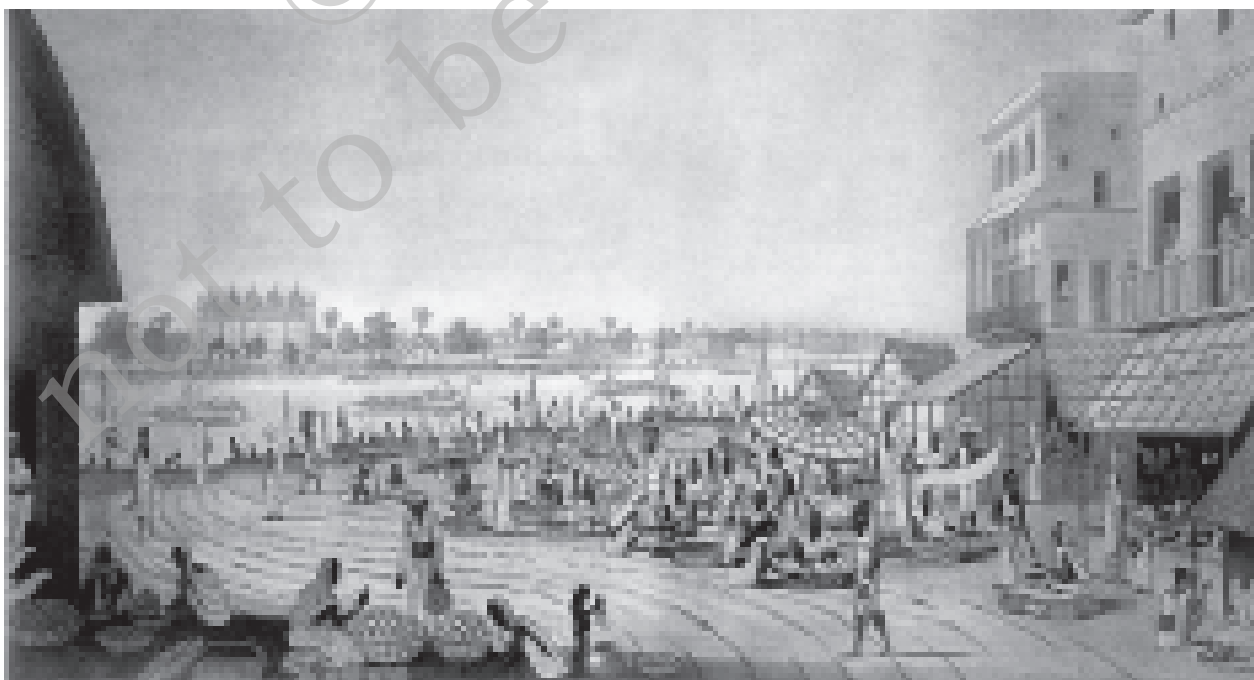
चित्र 3 – चार्ल्स कॉर्नवॉलिस।
जिस समय स्थायी बंदोबस्त लागू किया गया उस समय कॉर्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल था।

रही थी। 1770 में पड़े अकाल ने बंगाल में एक करोड़ लोगों को मौत की नींद सुला दिया। इस अकाल में लगभग एक तिहाई आबादी समाप्त हो गई।

खेती में सुधार की ज़रूरत

अगर अर्थव्यवस्था संकट में थी तो क्या कंपनी अपनी राजस्व आय के बारे में आश्वस्त रह सकती थी? कंपनी के ज़्यादातर अफ़सरों को यह लगने लगा था कि ज़मीन में निवेश करना और खेती में सुधार लाना ज़रूरी है।

यह काम किस तरह किया जा सकता था? इस सवाल पर दो दशकों तक बहस चली। आखिरकार कंपनी ने 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इस बंदोबस्त की शर्तों के हिसाब से राजाओं और तालुकदारों को ज़मींदारों के रूप में मान्यता दी गई। उन्हें किसानों से लगान वसूलने और कंपनी को राजस्व चुकाने का ज़िम्मा सौंपा गया। उनकी ओर से चुकाई जाने वाली राशि स्थायी रूप से तय कर दी गई थी। इसका मतलब यह था कि भविष्य में कभी भी उसमें इज़ाफा नहीं किया जाना था। अंग्रेज़ों को लगता था कि इससे उन्हें नियमित रूप से राजस्व मिलता रहेगा और ज़मींदारों को ज़मीन में सुधार के लिए खर्च करने का प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हें लगता था कि क्योंकि राज्य की ओर से राजस्व की माँग बढ़ने वाली नहीं थी इसलिए ज़मींदार बढ़ते उत्पादन से फायदे में रहेंगे।

समस्या

मगर स्थायी बंदोबस्त ने भी समस्या पैदा कर दी। कंपनी के अफ़सरों ने पाया कि अभी भी ज़मींदार ज़मीन में सुधार के लिए खर्चा नहीं कर रहे थे। असल में, कंपनी ने जो राजस्व तय किया था वह इतना ज़्यादा था कि उसको चुकाने में ज़मींदारों को भारी परेशानी हो रही थी। जो ज़मींदार राजस्व चुकाने में विफल हो जाता था उसकी ज़मींदारी छीन ली जाती थी। बहुत सारी ज़मींदारियों को कंपनी बाकायदा नीलाम कर चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक हालात बदल चुके थे। बाज़ार में कीमतें बढ़ीं और धीरे-धीरे खेती का विस्तार होने लगा। इससे ज़मींदारों की आमदनी में तो सुधार आया लेकिन कंपनी को कोई फायदा नहीं हुआ क्योंकि कंपनी तो हमेशा के लिए राजस्व तय कर चुकी थी। अब वह राजस्व में वृद्धि नहीं कर सकती थी।

लेकिन ज़मींदारों को अभी भी ज़मीन की बेहतरी में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनमें से कुछ तो बंदोबस्त के शुरुआती सालों में ही अपनी ज़मीन गँवा चुके थे। जो बचे रह गए थे अब उन्हें भी बिना परेशानी और निवेश का

स्रोत 1

बंगाल के रैयतों पर कोलब्रुक का कथन

बंगाल के बहुत सारे गाँवों में कई ताकतवर रैयत खुद खेती नहीं करते थे। वे औरों को पट्टे पर ज़मीन दे देते थे और उनसे भारी लगान वसूल करते थे। 1860 में एच.टी. कोलब्रुक ने इन काश्तकारों की स्थिति इन शब्दों में बयान की थी :

> बटाई की भारी शर्तों और मवेशियों, बीज, आजीविका व कर्ज़ों के बदले बेगारी से दबे ये काश्तकार खुद को कर्ज़ से कभी बाहर नहीं निकाल सकते। जब उन्हें जीने को भी पूरा नहीं मिलता तो ऐसे भयानक हालात में वे दिल लगाकर काम कैसे कर सकते हैं। न ही उन्हें अपनी हालत सुधरने की कोई उम्मीद दिखायी देती है।

गतिविधि

आपको ऐसा क्यों लगता है कि कोलब्रुक बंगाल के उप-पट्टेदारों की स्थिति पर इतने चिंतित हैं? पिछले पन्नों को पढ़कर संभावित कारण बताइए।

ख़तरा उठाए आमदनी की उम्मीद दिखाई दे रही थी। जब तक ज़मींदार किसानों को ज़मीन देकर उनसे लगान वसूल सकते थे उन्हें ज़मीन में सुधार की परवाह नहीं थी।

दूसरी तरफ, गाँवों में किसानों को यह व्यवस्था बहुत दमनकारी दिखाई दी। किसान को जो लगान चुकाना था वह बहुत ज़्यादा था और ज़मीन पर उसका अधिकार सुरक्षित नहीं था। लगान चुकाने के लिए अकसर महाजन से कर्ज़ा लेना पड़ता था। अगर वह लगान नहीं चुका पाता था तो उसे पुश्तैनी ज़मीन से बेदखल कर दिया जाता था।

महल – ब्रिटिश राजस्व दस्तावेज़ों में महल एक राजस्व इकाई थी। यह एक गाँव या गाँवों का एक समूह होती थी।

एक नयी व्यवस्था

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों को इस बात का यकीन हो चुका था कि राजस्व बंदोबस्त में दोबारा बदलाव लाना ज़रूरी है। जब कंपनी को शासन और व्यापार के अपने खर्चे चलाने के लिए और पैसे की ज़रूरत हो तो वह स्थायी रूप से राजस्व तय करके काम कैसे चला सकती है?

बंगाल प्रेज़िडेंसी के उत्तर-पश्चिमी प्रांतों (इस इलाके का ज़्यादातर हिस्सा अब उत्तर प्रदेश में है) के लिए होल्ट मैकेंज़ी नामक अंग्रेज़ ने एक नयी व्यवस्था तैयार की जिसे 1822 में लागू किया गया। मैकेंज़ी को विश्वास था कि उत्तर भारतीय समाज में गाँव एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है और उसको बचाए रखना चाहिए। उसके आदेश पर कलेक्टरों ने गाँव-गाँव का दौरा किया, ज़मीन की जाँच की, खेतों को मापा और विभिन्न समूहों के रीति-रिवाजों को दर्ज किया। गाँव के एक-एक खेत के अनुमानित राजस्व को जोड़कर हर गाँव या ग्राम समूह (**महाल**) से वसूल होने वाले राजस्व का हिसाब लगाया जाता था। इस राजस्व को स्थायी रूप से तय नहीं किया गया बल्कि उसमें समय-समय पर संशोधनों की गुंजाइश रखी गई। राजस्व इकट्ठा करने और उसे कंपनी को अदा करने का ज़िम्मा ज़मींदार की बजाय गाँव के मुखिया को सौंप दिया गया। इस व्यवस्था को *महालवारी* बंदोबस्त का नाम दिया गया।

चित्र 4 – मद्रास का गवर्नर टॉमस मुनरो (1819-26)।

मुनरो व्यवस्था

ब्रिटिश नियंत्रण वाले दक्षिण भारतीय इलाकों में भी स्थायी बंदोबस्त की जगह नयी व्यवस्था अपनाने का प्रयास किया जाने लगा। वहाँ जो नयी व्यवस्था विकसित हुई उसे *रैयतवार* (या रैयतवारी) का नाम दिया गया। कैप्टन एलेक्ज़ेंडर रीड ने टीपू सुल्तान के साथ चले युद्धों के बाद कंपनियों द्वारा कब्ज़े में लिए गए कुछ इलाकों में इस व्यवस्था को आज़मा कर भी देख लिया था। टॉमस मुनरो ने इस व्यवस्था को विकसित किया और धीरे-धीरे पूरे दक्षिणी भारत पर यही व्यवस्था लागू कर दी गई।

रीड और मुनरो को लगता था कि दक्षिण में परंपरागत ज़मींदार नहीं थे। इसलिए उनका तर्क यह था कि उन्हें सीधे किसानों (रैयतों) से ही बंदोबस्त करना चाहिए जो पीढ़ियों से ज़मीन पर खेती करते आ रहे हैं। राजस्व

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी के प्रतिनिधि की हैसियत से कंपनी शासन के अंतर्गत ग्रामीण इलाकों की दशा पर एक रिपोर्ट इंग्लैंड भेज रहे हैं। रिपोर्ट में आप क्या लिखेंगे?

आकलन से पहले उनके खेतों का सावधानीपूर्वक और अलग से सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। मुनरो का मानना था कि अंग्रेज़ों को पिता की भाँति किसानों की रक्षा करनी चाहिए।

सब कुछ ठीक नहीं था

नयी व्यवस्थाएँ लागू होने के बाद महज़ कुछ साल के भीतर उनमें समस्याएँ दिखाई देने लगीं। ज़मीन से होने वाली आमदनी बढ़ाने के चक्कर में राजस्व अधिकारियों ने बहुत ज़्यादा राजस्व तय कर दिया था। किसान राजस्व चुका नहीं पा रहे थे। रैयत गाँवों से भाग रहे थे। बहुत सारे क्षेत्रों में गाँव वीरान हो गए थे। आशावादी अफ़सरों को उम्मीद थी कि नयी व्यवस्था किसानों को संपन्न उद्यमशील किसान बना देगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

यूरोप के लिए फ़सलें

अंग्रेज़ों ने यह भी महसूस किया कि ग्रामीण इलाके न केवल राजस्व प्रदान कर सकते हैं बल्कि वहाँ यूरोप की ज़रूरतों के हिसाब से सही फ़सलें भी पैदा की जा सकती हैं। अठाहरवीं सदी के आखिर तक कंपनी ने अफ़ीम और नील की खेती पर पूरा ज़ोर लगा दिया था। इसके बाद लगभग 150 साल तक अंग्रेज़ देश के विभिन्न भागों में किसी न किसी फ़सल के लिए किसानों को मजबूर करते रहे : बंगाल में पटसन, असम में चाय, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में गन्ना, पंजाब में गेहूँ, महाराष्ट्र व पंजाब में कपास, मद्रास में चावल।

यह कैसे किया गया? अंग्रेज़ों ने अपनी ज़रूरत की फ़सलों की खेती को फैलाने के लिए कई तरीके अपनाए। आइए इसी तरह की एक फ़सल, उत्पादन की ऐसी ही एक पद्धति को अच्छी तरह समझें।

क्या रंग का भी कोई इतिहास है?

चित्र 5 और 6 में सूती कपड़े के छापों की दो तसवीरें दी गई हैं। बाईं तरफ (चित्र 5) की तसवीर में भारत में आंध्र प्रदेश के बुनकरों द्वारा बनाए गए कलमकारी छापे दिखाई दे रहे हैं। दूसरी तरफ ब्रिटेन के प्रसिद्ध कवि और कलाकार विलियम मॉरिस द्वारा बनाए गए फूल वाले छापे हैं। दोनों छापों में एक बात समान है : दोनों में ही गहरे नीले रंग का
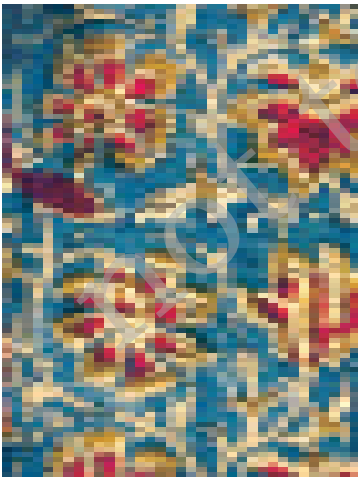
चित्र 5 – एक क़लमकारी छापा, बीसवीं सदी, भारत।

चित्र 6 – मॉरिस कॉटन छापा, उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध, इंग्लैंड।

इस्तेमाल किया गया है। इसे आमतौर पर नील कहा जाता है। क्या आप जानते हैं कि यह रंग किस तरह पैदा किया गया?

इन छापों में आपको जो नीला रंग दिखाई दे रहा है वह नील नाम के एक पौधे से निकाला जाता था। इस बात की काफ़ी संभावना है कि उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में मॉरिस के छापों में इस्तेमाल किया गया नीला रंग भारत में उगने वाले नील के पौधों से ही तैयार किया गया होगा। उस समय भारत दुनिया में नील का सबसे बड़ा स्रोत था।

भारतीय नील की माँग क्यों थी?

नील का पौधा मुख्य रूप से उष्णकटिबंधीय इलाकों में ही उगता है। तेरहवीं सदी तक इटली, फ्रांस और ब्रिटेन के कपड़ा उत्पादक कपड़े की रँगाई के लिए भारतीय नील का इस्तेमाल कर रहे थे।

उस समय भारतीय नील की बहुत थोड़ी मात्रा ही यूरोपीय बाज़ारों में पहुँचती थी। उसकी कीमत भी बहुत ऊँची रहती थी। इसीलिए यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों को बैंगनी और नीले रंग बनाने के लिए वोड नामक एक और पौधे पर निर्भर रहना पड़ता था। वोड पौधा शीतोष्ण क्षेत्र में उगता था इसलिए यूरोप में आसानी से मिल जाता था। उत्तरी इटली, दक्षिणी फ्रांस व जर्मनी और ब्रिटेन के कई हिस्सों में यह पौधा उगता था। नील के साथ प्रतिस्पर्धा से परेशान यूरोप के वोड उत्पादकों ने अपनी सरकारों पर दबाव डाला कि वे नील के आयात पर पाबंदी लगा दें।

मगर कपड़े को रँगने वाले तो नील को ही पसंद करते थे। नील से बहुत चमकदार नीला रंग मिलता था जबकि वोड से मिलने वाला रंग बेजान और फीका होता था। सत्रहवीं सदी तक आते-आते यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों ने नील के आयात पर लगी पाबंदी में ढील देने के लिए अपनी सरकारों को राज़ी कर लिया। कैरीबियाई द्वीप समूह स्थित सेंट डॉमिंग्यू में फ्रांसीसी, ब्राज़ील में पुर्तगाली, जमैका में ब्रिटिश और वेनेज़ुएला में स्पैनिश लोग नील की खेती करने लगे। उत्तरी अमेरिका के भी बहुत सारे भागों में नील के **बाग़ान** सामने आ गए थे।

बाग़ान – एक विशाल खेत जिस पर बाग़ान मालिक बहुत सारे लोगों से जबरन काम करवाता था। कॉफ़ी, गन्ना, तंबाकू, चाय और कपास आदि के विषय में बाग़ानों का ज़िक्र किया जाता है।

अठारहवीं शताब्दी के आखिर तक भारतीय नील की माँग और बढ़ गई। ब्रिटेन में औद्योगीकरण का युग शुरू हो चुका था और उसके कपास उत्पादन में भारी इज़ाफ़ा हुआ। अब कपड़ों की रँगाई की माँग और तेज़ी से बढ़ने लगी। जब नील की माँग बढ़ी उसी दौरान वेस्टइंडीज़ और अमेरिका से मिलने वाली आपूर्ति अनेक कारणों से बंद हो गई। 1783 से 1789 के बीच दुनिया का नील उत्पादन आधा रह गया था। ब्रिटेन के रँगरेज़ अब नील की आपूर्ति के लिए बैचेनी से किसी और स्रोत की तलाश कर रहे थे।

यह नील कहाँ से मिल सकता था?

भारत में ब्रिटेन की बढ़ती दिलचस्पी

यूरोप में नील की बढ़ती माँग को देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी भी भारत में नील की खेती बढ़ाने के रास्ते ढूँढ़ने लगी।

चित्र 7 – सेंट डॉमिंग्यू में गुलामों की बगावत, अगस्त 1791, जनवरी स्कुहदोल्स्की का चित्र।

अठाहरवीं सदी में फ़्रांसीसी बाग़ान मालिकों ने कैरीबियाई द्वीप समूह में स्थित फ़्रांसीसी उपनिवेश सेंट डॉमिंग्यू में नील और चीनी का उत्पादन शुरू किया। इन बाग़ानों में काम करने वाले अफ़्रीकी **गुलाम** 1791 में बगावत पर उतर आए। उन्होंने बाग़ान जला दिए और अपने धनी मालिकों को मार डाला। 1792 में फ़्रांस ने अपने उपनिवेशों में दास प्रथा समाप्त कर दी। इन घटनाओं की वजह से कैरीबियाई द्वीपों में नील की खेती ठप्प हो गई।

अठाहरवीं सदी के आखिरी दशकों से ही बंगाल में नील की खेती तेज़ी से फैलने लगी थी। बंगाल में पैदा होने वाला नील दुनिया के बाज़ारों पर छा गया था। 1788 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा केवल लगभग 30 प्रतिशत था। 1810 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा 95 प्रतिशत हो चुका था।

जैसे-जैसे नील का व्यापार फैला, कंपनी के अफ़सर और व्यावसायिक एजेंट नील के उत्पादन में पैसा लगाने लगे। समय बीतने के साथ कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों ने नील के अपने कारोबार पर ध्यान देने के लिए अपनी नौकरियाँ छोड़ दीं। भारी मुनाफ़े की उम्मीद में स्कॉटलैंड और इंग्लैंड के बहुत सारे लोग भारत आए और उन्होंने नील के बाग़ान लगा लिए। जिनके पास नील की पैदावार के लिए पैसा नहीं था उन्हें कंपनी और नए-नए बैंक कर्ज़ा देने को तैयार रहते थे।

नील की खेती कैसे होती थी?

नील की खेती के दो मुख्य तरीके थे – *निज* और *रैयती*। *निज* खेती की व्यवस्था में बाग़ान मालिक खुद अपनी ज़मीन में नील का उत्पादन करते थे। या तो वह ज़मीन ख़रीद लेते थे या दूसरे ज़मींदारों से ज़मीन भाड़े पर ले लेते थे और मज़दूरों को काम पर लगाकर नील की खेती करवाते थे।

निज खेती की समस्याएँ

बाग़ान मालिकों को *निज* खेती का क्षेत्रफल फैलाने में मुश्किल आ रही थी। नील की खेती केवल उपजाऊ ज़मीन पर की जा सकती थी। ऐसी ज़मीनों पर आबादी पहले ही बहुत ज़्यादा थी। यहाँ-वहाँ छोटे-मोटे खेत ही उनके हाथ लग पाते थे। नील की खेती करने के लिए उन्हें बड़े-बड़े भूखण्डों की ज़रूरत थी। इस तरह की ज़मीनें उन्हें कहाँ से मिल सकती थीं? उन्होंने नील की फैक्ट्री के इर्द-गर्द पट्टे पर ज़मीन लेने के प्रयास किए और वहाँ के किसानों को हटवा दिया। इससे टकराव और तनाव पैदा हो जाता था।

मज़दूरों का इंतज़ाम करना भी आसान नहीं था। बड़े बाग़ान के लिए बहुत सारे मज़दूरों की ज़रूरत होती थी। मज़दूरों की ज़रूरत भी सबसे ज़्यादा उसी समय होती थी जब किसान धान की खेती में व्यस्त रहते थे।

बड़े पैमाने पर *निज* खेती के लिए बहुत सारे हल-बैलों की भी ज़रूरत

गुलाम – ऐसा व्यक्ति जो किसी दास-स्वामी की संपत्ति होता है। गुलाम के पास कोई आज़ादी नहीं होती, उसे अपने मालिक के लिए काम करना होता है।

थी। एक बीघा नील की खेती के लिए दो हल चाहिए होते थे। इसका मतलब यह था कि अगर किसी बाग़ान मालिक के पास एक हज़ार **बीघा** ज़मीन है तो उसे दो हज़ार हलों की ज़रूरत पड़ती। हलों को ख़रीदना और उनका रखरखाव एक बड़ी समस्या थी। किसानों से भी हल नहीं मिल सकते थे। उन्हें अपने लिए ही इन चीज़ों की ज़रूरत होती थी। जिस समय नील उत्पादकों को ज़रूरत होती थी उसी समय किसानों के हल-बैल भी चावल के खेतों में व्यस्त रहते थे।

बीघा – ज़मीन की एक माप। ब्रिटिश शासन से पहले बीघे का आकार अलग-अलग होता था। बंगाल में अंग्रेज़ों ने इसका क्षेत्रफल करीब एक तिहाई एकड़ तय कर दिया था।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक बाग़ान मालिक *निज* खेती का क्षेत्रफल फैलाने में हिचकिचाते थे। इस व्यवस्था के तहत नील की पैदावार वाली 25 प्रतिशत से भी कम ज़मीन आती थी। बाकी ज़मीन *रैयती* व्यवस्था के अंतर्गत थी।

रैयतों की ज़मीन पर नील की खेती

रैयती व्यवस्था के तहत बाग़ान मालिक *रैयतों* के साथ एक अनुबंध (सट्टा) करते थे। कई बार वे गाँव के मुखियाओं को भी *रैयतों* की तरफ से समझौता करने के लिए बाध्य कर देते थे। जो अनुबंध पर दस्तखत कर देते थे उन्हें नील उगाने के लिए कम ब्याज दर पर बाग़ान मालिकों से नक़द कर्ज़ा मिल जाता था। कर्ज़ा लेने वाले *रैयत* को अपनी कम से कम 25 प्रतिशत ज़मीन पर नील की खेती करनी होती थी। बाग़ान मालिक बीज और उपकरण मुहैया कराते थे जबकि मिट्टी को तैयार करने, बीज बोने और फ़सल की देखभाल करने का ज़िम्मा काश्तकारों के ऊपर रहता था।

चित्र 8 – उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में बंगाल के मज़दूर नील की खेती करते हुए।

भारत में नील के पौधों की कटाई अधिकांशतः पुरुष ही करते थे।

जब कटाई के बाद फ़सल बाग़ान मालिक को सौंप दी जाती थी तो *रैयत* को नया कर्ज़ा मिल जाता था और वही चक्र दोबारा

चित्र 9 – खेतों से फ़ैक्ट्री में लाए जा रहे नील के पौधों के गट्ठर।

नील का उत्पादन कैसे होता था?
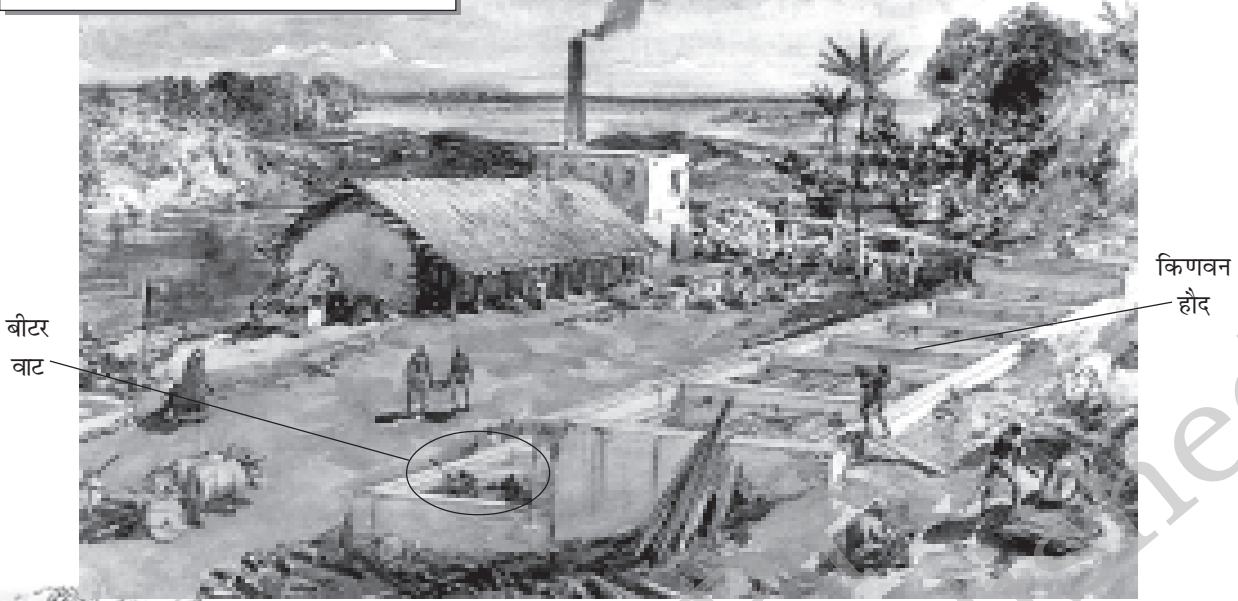
चित्र 10 – नील के खेतों के पास स्थित नील का एक कारखाना, विलियम सिंप्सन का चित्र, 1863.

नील गाँव आमतौर पर बागान मालिकों की फैक्ट्रियों के आस-पास ही होते थे। कटाई के बाद नील के पौधों को कारखाने में स्थित **वैटस** (हौद) में पहुँचा दिया जाता था। रंग बनाने के लिए 3 या 4 कुंडों की ज़रूरत पड़ती थी। प्रत्येक हौद का अलग काम था। नील के पौधों से पत्तियों को तोड़कर पहले एक कुंड में गर्म पानी में कई घंटों तक डुबोया जाता था (इस हौद को किणवन या स्टीपर कुंड कहा जाता था)। जब पौधे किणवित हो जाते थे तो द्रव्य में बुलबुले उठने लगते थे। अब सड़ी हुई पत्तियों को निकाल दिया जाता था और द्रव्य को एक और हौद में छान दिया जाता था। दूसरा हौद पहले हौद के ठीक नीचे होता था।

दूसरे हौद (बीटर वाट) में इस घोल को लगातार हिलाया जाता था और पैडलों से खंगाला जाता था। जब यह द्रव्य हरा और उसके बाद नीला हो जाता था तो हौद में चूने का पानी डाला जाता था। धीरे-धीरे नील की पपड़ियाँ नीचे जम जाती थीं और ऊपर साफ द्रव्य निकल आता था। द्रव्य को छानकर अलग कर लिया जाता था और नीचे जमी नील की गाद – नील की लुगदी – को दूसरे कुंड (निथारन कुंड) में डाल दिया जाता था। इसके बाद उसे निचोड़कर बिक्री के लिए सुखा दिया जाता था।

चित्र 11 *– नील के पौधों को हौद तक औरतें ही ढोकर लाती थीं।*

चित्र 12 *– हौद में घोल हिलाने वाला*

यहाँ खड़ा नील मज़दूर हौद में पड़े घोल को हिलाने के लिए इस्तेमाल होने वाला पैडल लिए खड़ा है। इन मज़दूरों को 8 घंटे से भी ज़्यादा समय तक कमर तक भरे नील के घोल में खड़े रहना पड़ता था।

वाट – एक किणवन अथवा संग्रहण पात्र

चित्र 13 *– बिक्री के लिए नील तैयार है।*

यहाँ आप उत्पादन की आखिरी अवस्था को देख सकते हैं। दबाकर साँचों में डाल दी गई नील की लुगदी को काटकर मज़दूर उन पर मुहर लगा रहे हैं। पीछे वाले हिस्से में एक मज़दूर इन टुकड़ों को सुखाने के लिए ले जा रहा है।

शुरू हो जाता था। जो किसान पहले इन कर्ज़ों से बहुत आकर्षित थे उन्हें जल्दी ही समझ में आ गया कि यह व्यवस्था कितनी कठोर है। उन्हें नील की जो कीमत मिलती थी वह बहुत कम थी और कर्ज़ों का सिलसिला कभी खत्म ही नहीं होता था।

समस्याएँ और भी थीं। बाग़ान मालिक चाहते थे कि किसान अपने सबसे बढ़िया खेतों में ही नील की खेती करें। लेकिन नील के साथ परेशानी यह थी कि उसकी जड़ें बहुत गहरी होती थीं और वह मिट्टी की सारी ताकत खींच लेती थीं। नील की कटाई के बाद वहाँ धान की खेती नहीं की जा सकती थी।

"नील विद्रोह" और उसके बाद

मार्च 1859 में बंगाल के हज़ारों *रैयतों* ने नील की खेती से इनकार कर दिया। जैसे-जैसे विद्रोह फैला, *रैयतों* ने बाग़ान मालिकों को लगान चुकाने से भी इनकार कर दिया। वे तलवार, भाले और तीर-कमान लेकर नील की फैक्ट्रियों पर हमला करने लगे। औरतें अपने बर्तन लेकर लड़ाई में कूद पड़ीं। बाग़ान मालिकों के लिए काम करने वालों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। बाग़ान मालिकों की तरफ़ से लगान वसूली के लिए आने वाले गुमाश्ता – एजेंटों – की पिटाई की गई। *रैयतों* ने कसम खा ली कि न तो वे नील की खेती के लिए कर्ज़ा लेंगे और न ही बाग़ान मालिकों के लठियालों – लाठीधारी गुंडों – से डरेंगे।

नील के किसान चुप बैठने को तैयार नहीं थे। क्यों? उन्हें बग़ावत की ताकत कहाँ से मिली? इसमें कोई शक नहीं कि नील की खेती अत्यन्त दमनात्मक थी। लेकिन जो लोग दबे होते हैं वे हमेशा बगावत नहीं करते। ऐसा कभी-कभी ही होता है।

1859 में नील *रैयतों* को लगा कि बाग़ान मालिकों के ख़िलाफ़ बग़ावत में उन्हें स्थानीय ज़मींदारों और मुखियाओं का भी समर्थन मिल सकता है। बहुत सारे गाँवों में जिन मुखियाओं से नील के अनुबंधों पर जबरन दस्तखत कराए गए थे उन्होंने ही नील किसानों को इकट्ठा किया और लठियालों के साथ आमने-सामने की लड़ाई लड़ी। कई स्थानों पर *रैयतों* को बग़ावत के लिए उकसाते हुए खुद ज़मींदार गाँव-गाँव घूमने लगे। ज़मींदार इस बात से परेशान थे कि बाग़ान मालिकों की ताकत बढ़ती जा रही थी और बाग़ान मालिक जबरन लंबे समय के लिए उनसे ज़मीन ले लेते थे।

नील के किसानों को ये भी लग रहा था कि अंग्रेज़ी सरकार भी संघर्ष में उनका साथ देगी। 1857 की बग़ावत के बाद ब्रिटिश सरकार एक और व्यापक विद्रोह के ख़तरे से डरी हुई थी। जब नील की खेती वाले ज़िलों में एक और बग़ावत की ख़बर फैली तो लेफ़्टिनेंट गवर्नर ने 1859 की सर्दियों में इलाके का दौरा किया। *रैयतों* को लगा कि सरकार उनकी दुर्दशा से परेशान है। बरसात में मजिस्ट्रेट ऐशले ईडन ने एक नोटिस जारी किया जिसमें कहा गया था कि *रैयतों* को नील के अनुबंध मानने के लिए मजबूर नहीं किया

स्रोत 2

नील गाँवों का एक गीत

संघर्ष के क्षणों में लोग एक-दूसरे का उत्साह बढ़ाने और सामूहिकता का भाव पैदा करने के लिए अकसर गीत गाते हैं। इस तरह के गीतों से हमें उनकी भावनाओं का पता चलता है। नील विद्रोह के दौरान बंगाल के निचले इलाकों में ऐसे बहुत सारे गीत सुनाई देते थे। इनमें से एक गीत इस प्रकार था :

> मौला हाती के बाग़ान मालिक की लम्बी-लम्बी लाठियाँ दूर इकट्ठी पड़ी हैं।
>
> कोलकाता के बाबू इस बड़ी लड़ाई को देखने के लिए नावों के जरिये पहुँच चुके हैं।
>
> इस बार तो सभी *रैयत* तैयार हैं, वे चुपचाप मार नहीं सहेंगे।
>
> अब वे बिना लठियालों का मुकाबला किये अपनी जान नहीं गँवाएँगे।

जाएगा। इस नोटिस के आधार पर लोगों में यह ख़बर फैल गई कि रानी विक्टोरिया ने नील की खेती न करने का हुक्म दे दिया है। ईडन किसानों को शांत करने और विस्फोटक स्थितियों को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे थे। उसकी कार्रवाई को किसानों ने अपने विद्रोह का समर्थन मान लिया।

जैसे–जैसे विद्रोह फैला, कलकत्ता के पढ़े–लिखे लोग भी नील ज़िलों की ओर चल पड़े। उन्होंने *रैयतों* की दुर्दशा, बाग़ान मालिकों की ज़ोर–ज़बर्दस्ती और अत्याचारी नील व्यवस्था के बारे में लिखा।

इस बग़ावत से परेशान सरकार को बाग़ान मालिकों की रक्षा के लिए सेना बुलानी पड़ी। नील उत्पादन व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक नील आयोग भी बना दिया गया। इस आयोग ने बाग़ान मालिकों को दोषी पाया, ज़ोर–ज़बर्दस्ती के लिए उनकी आलोचना की। आयोग ने कहा कि नील की खेती *रैयतों* के लिए फायदे का सौदा नहीं है। आयोग ने *रैयतों* से कहा कि वे मौजूदा अनुबंधों को पूरा करें लेकिन आगे से वे चाहें तो नील की खेती बंद कर सकते हैं।

इस बगावत के बाद बाग़ानों में नील का उत्पादन धराशायी हो गया। इसके बाद बाग़ान मालिक बिहार पर ध्यान देने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कृत्रिम रंगों का निर्माण होने लगा था। इससे उनका व्यवसाय भी बुरी तरह प्रभावित हुआ। फिर भी, वे उत्पादन फैलाने में सफल रहे। जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ़्रीका से लौटे तो बिहार के एक किसान ने उन्हें चंपारण आकर नील किसानों की दुर्दशा को देखने का न्यौता दिया। 1917 में महात्मा गांधी का यह दौरा नील बाग़ान मालिकों के ख़िलाफ़ चंपारण आंदोलन की शुरुआत थी।

स्रोत 3

भीख माँग लूँगा परन्तु "नील नहीं उगाऊँगा"

चाँदपुर, थाना हरदी के एक नील काश्तकार हाजी मुल्ला से मंगलवार 5 जून 1860 को नील आयोग के सदस्यों ने बात की। हाजी मुल्ला ने कुछ सवालों के जवाब इस तरह दिए :

डब्ल्यू.एस. सीटन कार, नील आयोग के अध्यक्ष : क्या अब तुम नील की खेती के लिए तैयार हो? अगर नहीं, तो किस तरह की शर्तों पर खेती करना चाहोगे?

हाजी मुल्ला : मैं नील उगाने को तैयार नहीं हूँ। मुझे नहीं पता कि कोई भी नयी शर्तें मुझे संतुष्ट कर सकती हैं।

श्री साले : क्या तुम एक रुपया प्रति बंडल की कीमत पर भी खेती नहीं करना चाहते?

हाजी मुल्ला : नहीं, मैं नहीं करूँगा। नील उगाने की बजाय मैं कहीं और चला जाऊँगा। भीख माँग लूँगा परन्तु नील नहीं उगाऊँगा।

नील आयोग रिपोर्ट, खंड 2, सबूतनामा, पृ. 67

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप नील आयोग के सामने गवाही दे रहे हैं। डब्ल्यू.एस. सीटन कार आपसे पूछते हैं : "*रैयत* किस सूरत में नील की खेती कर सकते हैं?" आपका जवाब क्या होगा?

अन्यत्र

वेस्टइंडीज़ में नील उत्पादन

अठारहवीं सदी की शुरुआत में एक फ़्रांसीसी मिशनरी जौं बेपतिस्त लबात ने कैरीबियाई द्वीपों का दौरा किया और इस इलाके के बारे में विस्तार से लिखा। यह तसवीर लबात की एक पुस्तक से ली गई है। इस तसवीर में यहाँ के फ़्रांसीसी बाग़ानों में नील उत्पादन के सारे चरणों को दर्शाया गया है। बाएँ सिरे पर आप देख सकते हैं कि गुलाम मज़दूर नील के पौधों को सेटलर वाट में डाल रहे हैं। एक और मज़दूर एक मशीनी चरखी से घोल को घुमा रहा है (दाएँ से दूसरा)। दो मज़दूर नील की लुगदी को बोरों में भरकर सुखाने के लिए ले जा रहे हैं। अगले हिस्से में दो मज़दूर नील की लुगदी को मिलाकर साँचों में डालने के लिए तैयार कर रहे हैं। तसवीर के बीचोंबीच बाग़ान मालिक ऊँची जगह खड़े होकर सारे गुलामों पर नज़र रख रहा है।

चित्र 14 – कैरिबियाई द्वीप समूह स्थित बाग़ानों में नील का उत्पादन।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ

रैयत	ग्राम-समूह
महाल	किसान
निज	*रैयतों* की ज़मीन पर खेती
रैयती	बाग़ान मालिकों की अपनी ज़मीन पर खेती

2. रिक्त स्थान भरें :

(क) यूरोप में वोड उत्पादकों को .... से अपनी आमदनी में गिरावट का ख़तरा दिखाई देता था।

(ख) अठारहवीं सदी के आखिर में ब्रिटेन में नील की माँग .... के कारण बढ़ने लगी।

आइए कल्पना करें

एक किसान को नील की खेती के लिए मजबूर किया जा रहा है। बाग़ान मालिक और उस किसान के बीच बातचीत की कल्पना कीजिए। किसान को राज़ी करने के लिए बग़ान मालिक क्या कारण बताएगा? किसान किन समस्याओं का ज़िक्र करेगा? इस बातचीत को अभिनय के ज़रिए दिखाएँ।

(ग) .... की खोज से नील की अंतर्राष्ट्रीय माँग पर बुरा असर पड़ा।

(घ) चंपारण आंदोलन .... के ख़िलाफ़ था।

आइए विचार करें

3. स्थायी बंदोबस्त के मुख्य पहलुओं का वर्णन कीजिए।
4. महालवारी व्यवस्था स्थायी बंदोबस्त के मुकाबले कैसे अलग थी?
5. राजस्व निर्धारण की नयी मुनरो व्यवस्था के कारण पैदा हुई दो समस्याएँ बताइए।
6. *रैयत* नील की खेती से क्यों कतरा रहे थे?
7. किन परिस्थितियों में बंगाल में नील का उत्पादन धराशायी हो गया?

आइए करके देखें

8. चंपारण आंदोलन और उसमें महात्मा गांधी की भूमिका के बारे में और जानकारियाँ इकट्ठा करें।
9. भारत के शुरुआती चाय या कॉफी बाग़ानों का इतिहास देखें। ध्यान दें कि इन बाग़ानों में काम करने वाले मज़दूरों और नील के बाग़ानों में काम करने वाले मज़दूरों के जीवन में क्या समानताएँ या फर्क थे।

4 आदिवासी, *दीकु* और एक स्वर्ण युग की कल्पना

1895 में बिरसा नाम के एक आदमी को बिहार में छोटानागपुर के जंगलों और गाँवों में घूमते देखा गया। लोग कहते थे कि उसके पास चमत्कारी शक्तियाँ हैं – वह सारी बीमारियाँ दूर कर सकता था और अनाज की छोटी सी ढेरी को कई गुना बढ़ा देता था। बिरसा ने खुद यह ऐलान कर दिया था कि उसे भगवान ने लोगों की रक्षा *दीकुओं* (बाहरी लोगों) की गुलामी से आज़ाद कराने के लिए भेजा है। कुछ समय के भीतर हज़ारों लोग बिरसा के पीछे चलने लगे। वे उसे भगवान मानते थे। उन्हें यक़ीन था कि वह उनकी समस्याएँ दूर करने आया है।

बिरसा का जन्म एक मुंडा परिवार में हुआ था। मुंडा एक जनजातीय समूह है जो छोटानागपुर में रहता है। बिरसा के समर्थकों में इलाके के दूसरे आदिवासी – संथाल और उराँव – भी शामिल थे। ये सभी अपने आसपास आ रहे बदलावों और अंग्रेज़ शासन के कारण पैदा हो रही समस्याओं से बेचैन थे। उनकी परिचित जीवन पद्धति नष्ट होती दिखाई दे रही थी, आजीविका खतरे में थी और धर्म छिन्न-भिन्न हो रहा था।

बिरसा किन समस्याओं को हल करना चाहता था? जिन्हें *दीकु* कहा जा रहा था, वे बाहरी लोग कौन थे? उन्होंने इलाक़े के लोगों को गुलाम कैसे बना लिया था? अंग्रेज़ों के राज में आदिवासियों के साथ क्या हो रहा था? आदिवासियों का जीवन किस तरह बदल रहा था? इस अध्याय में हम ऐसे ही कुछ सवालों पर विचार करेंगे।

पिछले साल आपने आदिवासी समाजों के बारे में पढ़ा था। ज़्यादातर क़बीलों के रीति-रिवाज और रस्में ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजों और रस्मों से बहुत अलग थीं। इन समाजों में ऐसे गहरे सामाजिक भेद भी नहीं थे जो जाति पर आधारित समाजों में दिखाई देते हैं। एक क़बीले के सारे लोग कुटुम्ब के बँधनों में बँधे होते थे। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं है कि आदिवासियों के बीच कोई आर्थिक और सामाजिक फ़र्क़ नहीं था।

चित्र 1 : *उड़ीसा के डोंगरिया कंध क़बीले की महिलाएँ बाज़ार जाते हुए नदी से गुजर रही हैं।*
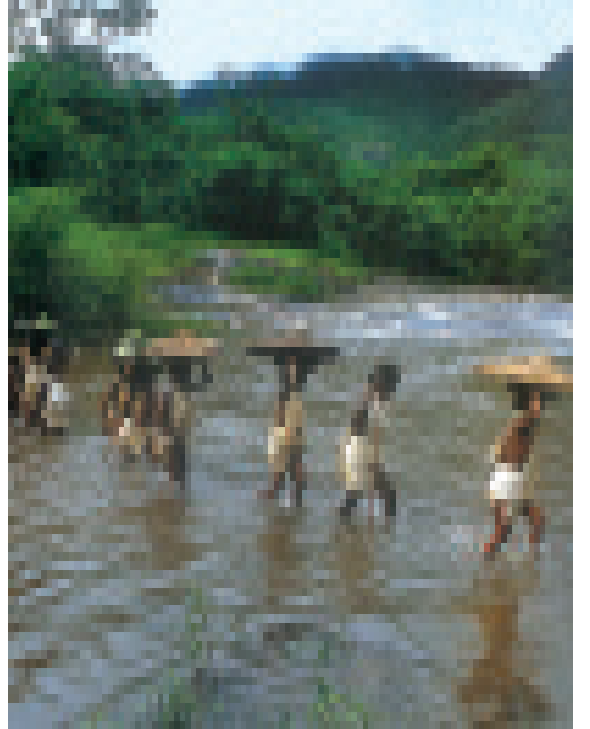
जनजातीय समूह किस तरह जीते थे?

उन्नीसवीं सदी तक देश के विभिन्न भागों में आदिवासी तरह-तरह की गतिविधियों में सक्रिय थे।

कुछ *झूम* खेती करते थे

उनमें से कुछ समुदाय *झूम* खेती करते थे। *झूम* खेती घुमंतू खेती को कहा जाता है। इस तरह की खेती अधिकांशत: जंगलों में छोटे-छोटे भूखण्डों पर की जाती थी। ये लोग ज़मीन तक धूप लाने के लिए पेड़ों के ऊपरी हिस्से काट देते थे और ज़मीन पर उगी घास-फूस जलाकर साफ कर देते थे। इसके बाद वे घास-फूस के जलने पर पैदा हुई राख को खाली ज़मीन पर छिड़क देते थे। इस राख में पोटाश होती थी जिससे मिट्टी उपजाऊ हो जाती थी। वे कुल्हाड़ों से पेड़ों को काटते थे और कुदालों से ज़मीन की ऊपरी सतह को खुरच देते थे। वे खेतों को जोतने और बीज रोपने की बजाय उन्हें बस खेत में बिखेर देते थे। जब एक बार फ़सल तैयार हो जाती थी तो उसे काटकर वे दूसरी जगह के लिए चल पड़ते थे। जहाँ से उन्होंने अभी फ़सल काटी थी वह जगह कई साल तक **परती** पड़ी रहती थी।

घुमंतू किसान मुख्य रूप से पूर्वोत्तर और मध्य भारत की पर्वतीय व जंगली पट्टियों में ही रहते थे। इन आदिवासी समुदायों की जिंदगी जंगलों में बेरोकटोक आवाजाही और फ़सल उगाने के लिए ज़मीन और जंगलों के इस्तेमाल पर आधारित थी। वे केवल इसी तरीके से घुमंतू खेती कर सकते थे।

परती – कुछ समय के लिए बिना खेती छोड़ दी जाने वाली ज़मीन ताकि उसकी मिट्टी दोबारा उपजाऊ हो जाए।
साल – एक पेड़।
महुआ – एक फूल जिसे खाया जाता है या शराब बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

कुछ शिकारी और संग्राहक थे

बहुत सारे इलाकों में आदिवासी समूह पशुओं का शिकार करके और वन्य उत्पादों को इकट्ठा करके अपना काम चलाते थे। वे जंगलों को अपनी जिंदगी के लिए बहुत ज़रूरी मानते थे। उड़ीसा के जंगलों में रहने वाला खोंड समुदाय इसी तरह का एक समुदाय था। इस समुदाय के लोग टोलियाँ बना कर शिकार पर निकलते थे और जो हाथ लगता था उसे आपस में बाँट लेते थे। वे जंगलों से मिले फल और जड़ें खाते थे। खाना पकाने के लिए वे **साल** और **महुआ** के बीजों का तेल इस्तेमाल करते थे। इलाज के लिए वे बहुत सारी जंगली जड़ी-बूटियों का इस्तेमाल करते थे और जंगलों से इकट्ठा हुई चीजों को स्थानीय बाज़ारों में बेच देते थे। जब भी स्थानीय बुनकरों और चमड़ा कारीगरों को कपड़े व चमड़े की रँगाई के लिए कुसुम और पलाश

चित्र 2 – डोंगरिया कंध क़बीले की औरतें पंडानु की पत्तियाँ इकट्ठा करके ला रही हैं। इन पत्तियों से पत्तलें बनाई जाएँगी।

के फूलों की ज़रूरत होती थी तो वे खोंड समुदाय के लोगों से ही कहते थे।

इन समुदायों को चावल और अन्य अनाज कहाँ से मिलते थे? कई बार तो चीज़ों की अदला-बदली से काम चल जाता था। वे अपने कीमती वन उत्पादों के बदले ज़रूरत की चीज़ें ले लेते थे। कई बार उन्हें ज़रूरी चीजें खरीदने के लिए अपनी मुट्ठी भर आमदनी का सहारा लेना पड़ता था। उनमें से कई लोग आस पास के गाँवों में नौकरी भी करते थे। कोई बोझ ढोता था तो कोई सड़क निर्माण कार्यों में नौकरी करता था। कई आदिवासी खेत मज़दूर थे। जब वन उत्पाद कम पड़ जाते थे तो आदिवासियों को मज़दूरी के लिए ज्यादा भटकना पड़ता था। लेकिन उनमें से बहुत सारे समुदाय – जैसे मध्य भारत के बैगा – औरों के लिए काम करने से कतराते थे। बैगा खुद को जंगल की संतान मानते थे जो केवल जंगल की उपज पर ही ज़िंदा रह सकती है। मज़दूरी करना बैगाओं के लिए अपमान की बात थी।
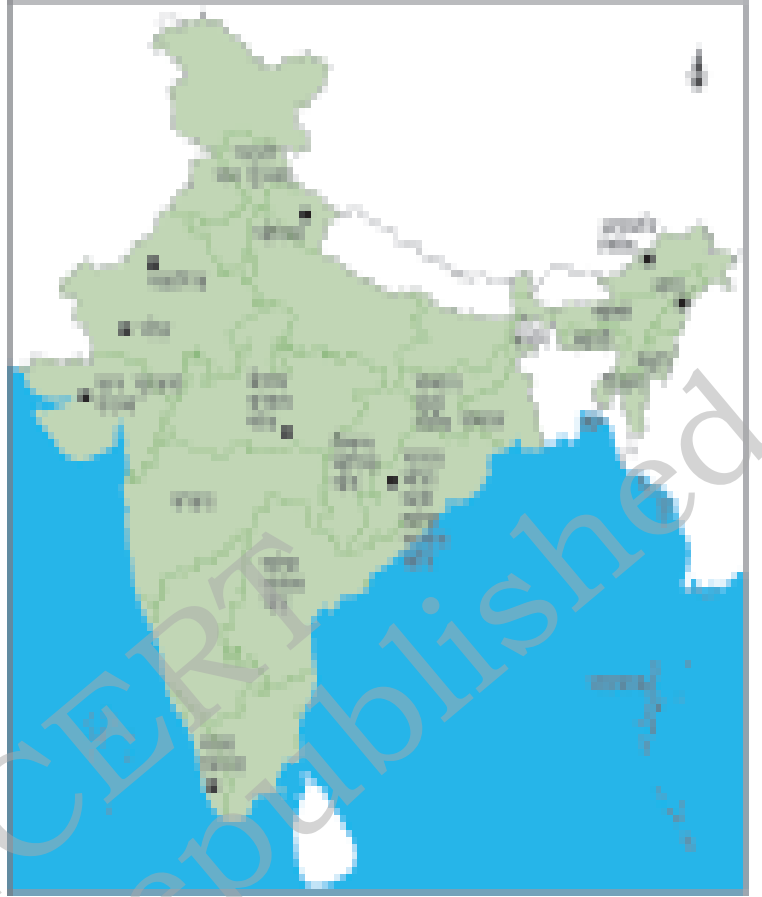
चित्र 3 – भारत में कुछ आदिवासी समुदायों के इलाक़े।

जो चीज़ें आसपास पैदा नहीं होती थीं उन्हें हासिल करने के लिए आदिवासियों को खरीद-फ़रोख्त भी करनी पड़ती थी। इसकी वजह से वे कभी-कभी व्यापारियों और महाजनों पर आश्रित हो जाते थे। व्यापारी बेचने की चीजें लेकर आते थे और भारी कीमत पर चीज़ें बेचते थे। सूदखोर महाजन भी आदिवासियों को कर्ज़ा तो देते थे लेकिन उसका ब्याज बहुत ज़्यादा होता था। इस तरह बाजार और वाणिज्य ने आदिवासियों को कर्ज़ और गरीबी में ढकेल दिया था। लिहाज़ा, वे महाजनों और व्यापारियों को बाहरी शैतान और अपनी सारी मुसीबतों की जड़ मानने लगे थे।

कुछ जानवर पालते थे

बहुत सारे आदिवासी समूह जानवर पालकर अपनी ज़िंदगी चलाते थे। वे चरवाहे थे जो मौसम के हिसाब से मवेशियों या भेड़ों के रेवड़ लेकर यहाँ से वहाँ जाते रहते थे। जब एक जगह घास खत्म हो जाती थी तो वे दूसरे इलाके में चले जाते थे। पंजाब के पहाड़ों में रहने वाले वन गुज्जर और आंध्र प्रदेश के लबाड़िया आदि समुदाय गाय-भैंस के झुंड पालते थे। कुल्लू के गद्दी समुदाय के लोग गड़रिये थे और कश्मीर के बकरवाल बकरियाँ पालते थे। अगले साल इतिहास की पाठ्यपुस्तक में आप उनके बारे में विस्तार से पढ़ेंगे।

स्रोत 1

शिकार का वक्त, बुआई का वक्त, नए खेतों में जाने का वक्त

क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि विभिन्न प्रकार के समाजों में रहने वाले लोगों की काम और समय के बारे में समझदारी एक जैसी नहीं होती? विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले घुमंतू आदिवासियों और शिकारियों की ज़िंदगी एक खास क्रम और मर्द-औरत के बीच कामों के बँटवारे से चलती थी।

ब्रिटिश मानव विज्ञानी वेरियर ऐल्विन ने 1930 और 1940 के दशकों में कई साल मध्य भारत के बैगा और खोंड समुदायों के बीच बिताए थे। ऐल्विन द्वारा लिखित निम्नलिखित अंशों को पढ़कर इस समयक्रम और कामों के बँटवारे को समझा जा सकता है। वे लिखते हैं :

चैत में औरतें ...... इकट्ठा करने और बचे-खुचे ठूँठों को काटने जाती थीं। पुरुष बड़े पेड़ों को काटते थे और शिकार पर जाते थे। शिकार पूरे चाँद के समय पूर्व से शुरू होता था। शिकार के लिए बाँस के फंदों का इस्तेमाल करते थे। औरतें सागो, इमली और मशरूम (कुकुरमुता) आदि फल बीनकर लाती थीं। बैगा औरतें या तो केवल जड़ें या कंद इकट्ठा करती हैं या महुआ के बीज इकट्ठा करती हैं। मध्य भारत के आदिवासियों में बैगाओं को सबसे अच्छा शिकारी माना जाता था...। बैसाख में जंगलों को जलाया जाता था। औरतें अधजली लकड़ियों को ईंधन के लिए बीन लेती थीं। आदमी शिकार पर जाते रहते थे लेकिन गाँव से दूर नहीं जाते थे। जेठ में बुआयी होती थी और शिकार चलता रहता था। आषाढ़ से भादों तक मर्द खेतों में काम करते थे। क्वार में फलियाँ आने लगती थीं और कार्तिक कुटकी में पक जाती थीं। अगहन में सारी फ़सल तैयार हो जाती थी और पूस में फटकन किया जाता था। नाच-गाना और शादियाँ भी पूस के महीने में ही होती थीं। माघ में पुरुष नए **बेवड़** की तरफ चल देते थे। इस दौरान शिकार व चीज़ों का संग्रह ही जीने की मुख्य गतिविधि होती थी।

यह चक्र पहले साल का होता था। दूसरे साल शिकार के लिए ज़्यादा समय मिल जाता था क्योंकि केवल कुछ फ़सलों की ही बुआयी-कटायी होती थी। क्योंकि भोजन काफी होता था इसलिए पुरुष बेवड़ों में ही रहते थे। तीसरे साल में भोजन के लिए वन उत्पादों की भी ज़रूरत पड़ने लगती थी।

वेरियर ऐल्विन द्वारा लिखित बैगा (1939) और ऐल्विन की अप्रकाशित रचना 'नोट्स ऑन द खोंड्स' (वेरियर ऐल्विन पेपर्स, नेहरू स्मृति संग्रहालय एवं पुस्तकालय) पर आधारित

चित्र 4 *– ईंधन की लकड़ी ले जाती एक संथाल लड़की, बिहार, 1946*

बच्चे वन उपज इकट्ठा करने के लिए अपनी माँओं के साथ जंगल में जाते हैं।

गतिविधि

बैगा औरतें और मर्द जो काम करते हैं, उनको ध्यान से पढ़ें। क्या आपको उनमें कोई क्रम दिखाई देता है? उनके कामों में क्या फ़र्क थे?

कुछ लोग एक जगह खेती करते थे

उन्नीसवीं सदी से पहले ही बहुत सारे जनजातीय क़बीले एक जगह टिक कर खेती करने लगे थे। वे बार–बार जगह बदलने की बजाय साल–दर–साल एक ही जगह खेती करते थे। वे हलों का इस्तेमाल करने लगे थे और धीरे–धीरे उन्हें ज़मीन पर अधिकार भी मिलते जा रहे थे। बहुत सारे समुदायों में छोटानागपुर के मुंडाओं की तरह ज़मीन पूरे क़बीले की संपत्ति होती थी। कुल के सभी सदस्यों को उन मूल निवासियों का वंशज माना जाता था जिन्होंने सबसे पहले आकर ज़मीन को साफ़ किया था। लिहाज़ा, ज़मीन पर सभी का बराबर हक़ होता था। फिर भी, अकसर ऐसा होता था कि कुल के कुछ लोग औरों से ज़्यादा ताकत जुटा लेते थे। कुछ मुखिया बन जाते थे और बाकी उनके अनुयायी होते थे। जो ताकतवर होते थे वे खुद खेती करने की बजाय अकसर अपनी ज़मीन बँटाई पर दे देते थे।

ब्रिटिश अफ़सरों को गोंड और संथाल जैसे एक जगह ठहरकर रहने वाले आदिवासी समूह शिकारी–संग्राहक या घुमंतू खेती करने वालों के मुकाबले ज़्यादा सभ्य दिखाई देते थे। जंगलों में रहने वालों को जंगली और बर्बर माना जाता था। अंग्रेज़ों को लगता था कि उन्हें स्थायी रूप से एक जगह बसाना और सभ्य बनाना ज़रूरी है।

औपनिवेशिक शासन से आदिवासियों के जीवन पर क्या असर पड़े?

ब्रिटिश शासन के दौरान आदिवासी समूहों का जीवन बदल गया। आओ देखें कि ये बदलाव क्या थे।

आदिवासी मुखियाओं का क्या हुआ?

अंग्रेज़ों के आने से पहले बहुत सारे इलाकों में आदिवासियों के मुखियाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता था। उनके पास औरों से ज़्यादा आर्थिक ताकत होती थी और वे अपने इलाके पर नियंत्रण रखते थे। कई जगह उनकी अपनी पुलिस होती थी और वे ज़मीन एवं वन प्रबंधन के स्थानीय नियम खुद बनाते थे। ब्रिटिश शासन के तहत आदिवासी मुखियाओं के कामकाज और अधिकार काफ़ी बदल गए थे। उन्हें कई–कई गाँवों पर ज़मीन का मालिकाना तो मिला रहा लेकिन उनकी शासकीय शक्तियाँ छिन गईं और उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा बनाए गए नियमों को मानने के लिए बाध्य कर दिया। उन्हें अंग्रेज़ों को नज़राना देना पड़ता था और अंग्रेज़ों के प्रतिनिधि की हैसियत से अपने समूहों को अनुशासन में रखना होता था। पहले उनके पास जो ताकत थी अब वह नहीं रही। वे परंपरागत कामों को करने से लाचार हो गए।

घुमंतू काश्तकारों का क्या हुआ?

ऐसे समूहों से अंग्रेज़ों को काफ़ी परेशानी थी जो यहाँ–वहाँ भटकते रहते थे और एक जगह ठहरकर नहीं रहते थे। वे चाहते थे कि आदिवासियों के

बेवड़ – मध्य प्रदेश में घुमंतू खेती के लिए इस्तेमाल होने वाला शब्द।
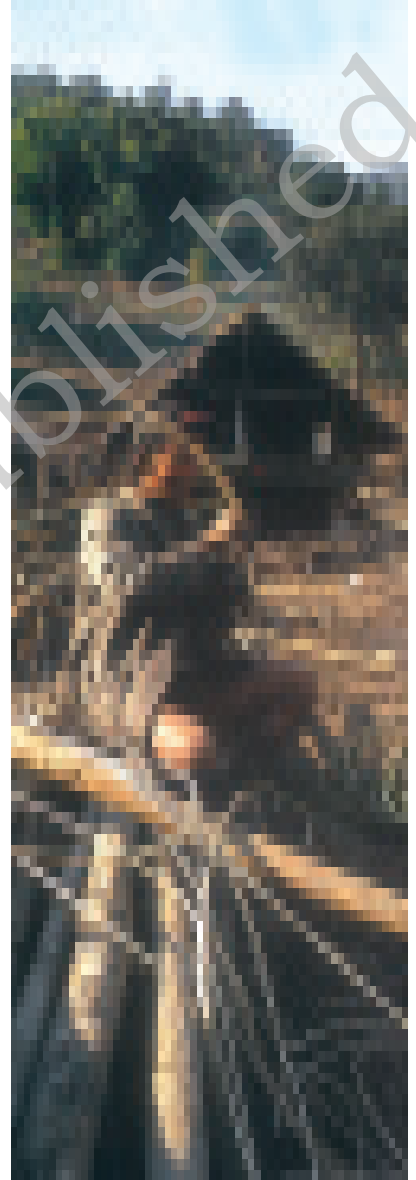
चित्र 5 – पूर्वोतर के निशी आदिवासियों के एक गाँव में लट्ठों से बना घर।
जब ये घर बनाए जाते हैं तो पूरा गाँव मदद करता है।

चित्र 6 – गुजरात के एक जंगल में खेती करती भील औरतें।

घुमंतू खेती गुजरात के बहुत सारे वन क्षेत्रों में अभी भी जारी है। आप देख सकते हैं कि यहाँ पेड़ों को काट दिया गया है और खेती के लिए ज़मीन साफ़ कर दी गई है।
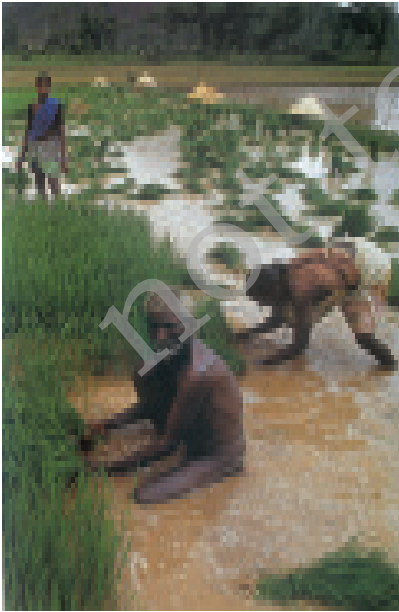
समूह एक जगह स्थायी रूप से रहें और खेती करें। स्थायी रूप से एक जगह रहने वाले किसानों को नियंत्रित करना आसान था। अंग्रेज़ अपने शासन के लिए आमदनी का नियमित स्रोत भी चाहते थे। फलस्वरूप उन्होंने ज़मीन के बारे में कुछ नियम लागू कर दिए। उन्होंने ज़मीन को मापकर प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा तय कर दिया। उन्होंने यह भी तय कर दिया कि किसे कितना लगान देना होगा। कुछ किसानों को भूस्वामी और दूसरों को पट्टेदार घोषित किया गया। जैसा कि आप देख चुके हैं (अध्याय 2), पट्टेदार अपने भूस्वामियों का भाड़ा चुकाते थे और भूस्वामी सरकार को लगान देते थे।

झूम काश्तकारों को स्थायी रूप से बसाने की अंग्रेज़ों की कोशिश बहुत कामयाब नहीं रही। जहाँ पानी कम हो और मिट्टी सूखी हो, वहाँ हलों से खेती करना आसान नहीं होता। बल्कि, हलों की मदद से खेती करने वाले झूम काश्तकारों को अकसर नुकसान ही हुआ क्योंकि उनके खेत अच्छी उपज नहीं दे पाते थे। इसलिए, पूर्वोत्तर राज्यों के झूम काश्तकार इस बात पर अड़े रहे कि उन्हें परंपरागत ढंग से ही जीने दिया जाए। व्यापक विरोध के फलस्वरूप अंग्रेज़ों को आखिरकार उनकी बात माननी पड़ी और ऐसे क़बीलों को जंगल के कुछ हिस्सों में घुमंतू खेती की छूट दे दी गई।

वन कानून और उनके प्रभाव

जैसा कि आपने देखा है, आदिवासी समूहों का जीवन जंगलों से जुड़ा हुआ था। अतः, वन कानूनों में आए बदलावों से आदिवासियों के जीवन पर भी

चित्र 7 – आंध्र प्रदेश में धान के खेत में काम करते आदिवासी।

समतल मैदानों और जंगलों में धान की खेती के बीच फ़र्क को देखें।

भारी असर पड़ा। अंग्रेज़ों ने सारे जंगलों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था और जंगलों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया था। कुछ जंगलों को आरक्षित वन घोषित कर दिया गया। ये ऐसे जंगल थे जहाँ अंग्रेज़ों की ज़रूरतों के लिए इमारती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में लोगों को स्वतंत्र रूप से घूमने, झूम खेती करने, फल इकट्ठा करने या पशुओं का शिकार करने की इजाज़त नहीं थी। ऐसी सूरत में झूम काश्तकार किस तरह ज़िंदा रह सकते थे? इसलिए, उनमें से बहुतों को काम और रोजगार की तलाश में मजबूरन दूसरे इलाकों में जाना पड़ा।

जैसे ही अंग्रेज़ों ने जंगलों के भीतर आदिवासियों के रहने पर पाबंदी लगा दी, उनके सामने एक समस्या पैदा हो गई। समस्या यह थी कि रेलवे **स्लीपर्स** के लिए पेड़ काटने और लकड़ी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए मज़दूरों का इंतज़ाम कहाँ से किया जाए?

औपनिवेशिक अधिकारियों ने इसका भी एक हल ढूँढ़ निकाला। उन्होंने तय किया कि झूम काश्तकारों को जंगल में ज़मीन के छोटे टुकड़े दिए जाएँगे और उन्हें वहाँ खेती करने की भी छूट होगी बशर्ते गाँवों में रहने वालों को वन विभाग के लिए मज़दूरी करनी होगी और जंगलों की देखभाल करनी होगी। इस तरह, बहुत सारे इलाकों में वन विभाग ने सस्ते श्रम की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए वन गाँव बसा दिए।

स्लीपर – लकड़ी के क्षैतिज तख्ते जिन पर रेल की पटरियाँ बिछाई जाती हैं।

स्रोत 2

"अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना कठिन है"

1930 के दशक में वेरियर ऐल्विन ने मध्य भारत में रहने वाले बैगा आदिवासियों के इलाकों का दौरा किया था। ऐल्विन इन लोगों के रीति-रिवाज, उनकी कला और लोक संस्कृति को जानना चाहते थे। उन्होंने बैगाओं के बहुत सारे गीत इकट्ठे किए जिनमें इस बात पर शिकायत की गई है कि अंग्रेज़ों के शासन में बैगा कितने बुरे दौर से गुजर रहे हैं।

अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना है मुश्किल
जीना कितना है मुश्किल
ज़मीदार बैठा है गाँव में
दरवाज़े में कोतवार
बगीचों में पटवारी
खेतों में सरकार
अंग्रेज़ों के इस देस में जीना कितना है मुश्किल
पशु कर अदा करने के लिए बेचते हैं गाय
तो भैंस बेचते हैं जंगल कर के लिए
बैलों को बेच कर अदा करते हैं लगान
भोजन पाएँ कहाँ से
अंग्रेज़ों के इस देस में

वेरियर ऐल्विन एवं शामरॉव हिवाले, सॉंग्स ऑफ़ दि मैकल, पृष्ठ 316 से उद्धृत।

चित्र 8 – *गोदारा औरतें बुनाई करती हुईं।*

बहुत सारे आदिवासी समूहों ने औपनिवेशिक वन कानूनों का विरोध किया। उन्होंने नए नियमों का पालन करने से इनकार कर दिया और उन्हीं तौर–तरीकों से चलते रहे जिन्हें सरकार गैर–कानूनी घोषित कर चुकी है। कई बार उन्होंने खुलेआम बग़ावत भी कर दी। 1906 में सोंग्रम संगमा द्वारा असम में और 1930 के दशक में मध्य प्रांत में हुआ वन सत्याग्रह इसी तरह के विद्रोह थे।

व्यापार की समस्या

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान जनजातीय समूहों ने पाया कि व्यापारी और महाजन जंगलों में जल्दी–जल्दी आने लगे हैं। वे वन उपज खरीदने, नक़द कर्ज़ा देने और आदिवासियों को मजदूरी पर रखने के लिए आ रहे थे। इन सारे बदलावों से क्या असर पड़ने वाले हैं, यह समझने में आदिवासियों को कुछ समय लगा।

यह समझने के लिए आइए रेशम उत्पादकों की स्थिति को देखें। अठारहवीं सदी में भारतीय रेशम की यूरोपीय बाज़ारों में भारी माँग थी। भारतीय रेशम की अच्छी गुणवत्ता सबको आकर्षित करती थी और भारत का निर्यात तेज़ी से बढ़ रहा था। जैसे–जैसे बाज़ार फैला ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर इस माँग को पूरा करने के लिए रेशम उत्पादन पर ज़ोर देने लगे।

वर्तमान झारखण्ड में स्थित हज़ारीबाग के आस–पास रहने वाले संथाल रेशम के कीड़े पालते थे। रेशम के व्यापारी अपने ऐजेंटों को भेजकर आदिवासियों को कर्ज़े देते थे और उनके कृमिकोषों को इकट्ठा कर लेते थे। एक हज़ार कृमिकोषों के लिए 3–4 रुपए मिलते थे। इसके बाद इन कृमिकोषों को बर्दवान या गया भेज दिया जाता था जहाँ उन्हें पाँच गुना कीमत पर बेचा जाता था। निर्यातकों और रेशम उत्पादकों के बीच कड़ी का काम करने वाले बिचौलियों को जमकर मुनाफ़ा होता था। रेशम उत्पादकों को बहुत मामूली फ़ायदा मिलता था। स्वाभाविक है कि बहुत सारे आदिवासी समुदाय बाज़ार और व्यापारियों को अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानने लगे थे।

चित्र 9 – *चटाई बुनती एक हाजाँग औरत*

औरतों के लिए घरेलू काम सिर्फ़ घर तक ही सीमित नहीं था। वे खेतों और कारखानों में भी अपने बच्चों को साथ लेकर जाती थीं।
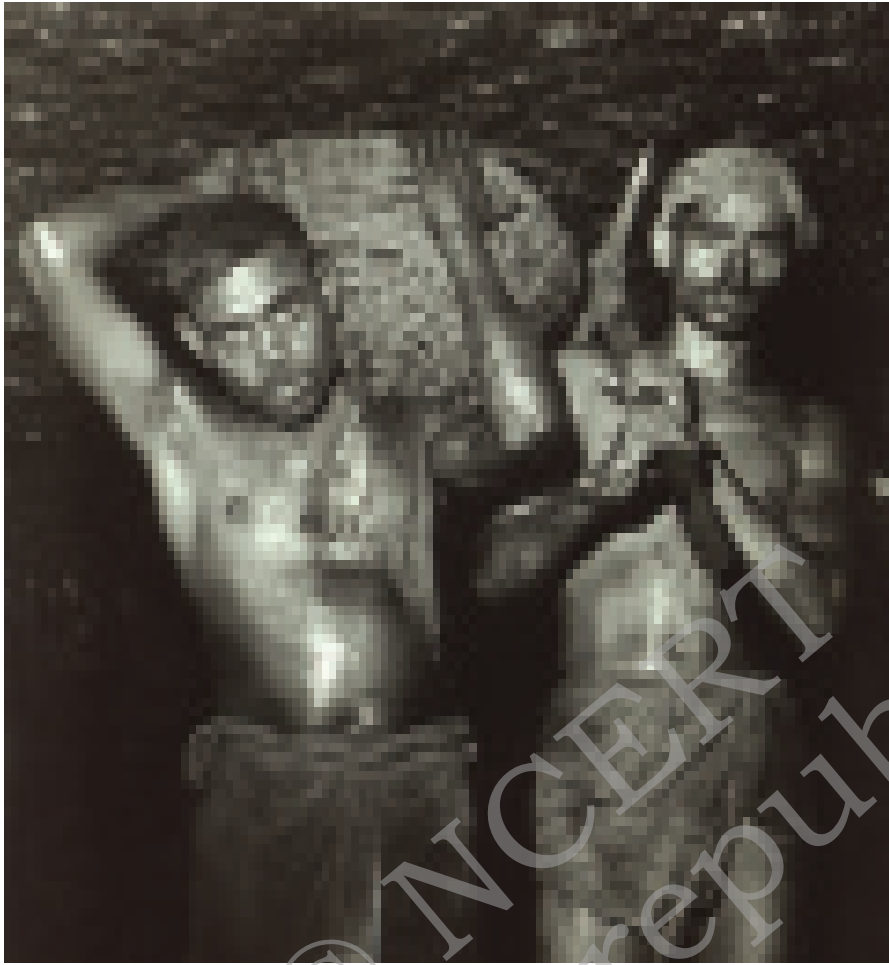
चित्र 10 – बिहार के कोयला खनिक, 1948.

1920 के दशक में बिहार की झरिया और रानीगंज कोयला खदानों में काम करने वाले लगभग 50 प्रतिशत खनिक आदिवासी थे। अँधेरी और दमघोंटू खदानों की गहराई में काम करना न केवल शरीर को तोड़ता था बल्कि यह खतरनाक था। वह अकसर सचमुच जान ले लेता था। 1920 के दशक में देश की कोयला खदानों में हर साल 2,000 से ज्यादा मज़दूर मारे जाते थे।

काम की तलाश

काम की तलाश में घर से दूर जाने वाले आदिवासियों की दशा तो और भी खराब थी। उन्नीसवीं सदी के आखिर से ही चाय बागान फैलने लगे थे। खनन उद्योग भी एक महत्वपूर्ण उद्योग बन गया था। असम के चाय बाग़ानों और झारखण्ड की कोयला खादानों में काम करने के लिए आदिवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया। इन लोगों को ठेकेदारों की मार्फ़त भर्ती किया जाता था। ये ठेकेदार न केवल उन्हें बहुत कम वेतन देते थे बल्कि उन्हें वापस घर भी लौटने नहीं देते थे।

नज़दीक से देखने पर

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के दौरान देश के विभिन्न भागों में जनजातीय समूहों ने बदलते कानूनों, अपने व्यवहार पर लगी पाबंदियों, नए करों और व्यापारियों व महाजनों द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ़ कई बार बग़ावत की। 1831-32 में कोल आदिवासियों ने और 1855 में संथालों ने बग़ावत कर दी थी। मध्य भारत में बस्तर विद्रोह 1910 में हुआ और 1940 में महाराष्ट्र में वर्ली विद्रोह हुआ। बिरसा जिस आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे वह भी इसी तरह का विद्रोह था।

गतिविधि

पता लगाएँ कि कोयला खदानों में काम के हालात बदल गए हैं या नहीं। पता लगाएँ कि खदानों में हर साल कितने लोग मरते हैं और उनकी मौत के क्या कारण होते हैं।

स्रोत 3

लहू लुहान मेरे कंधे

मुंडा आदिवासियों के गीतों में उनके कष्ट झलकते हैं।

हाय! कोहलू के बैल की
तरह मैं

लहू लुहान मेरे कंधे
ज़मींदार के दूत दिन और
रात करते हैं मुझे परेशान

बड़बड़ाता हूँ मैं यही दिन
और रात
हाय! यही है मेरी हालत!
नहीं है मेरा कोई ठिकाना
नहीं हैं मेरी कोई खुशियाँ

के.एस. सिंह, बिरसा मुंडा एंड हिज़ मूवमेंट, पृष्ठ 12

बिरसा मुंडा

बिरसा का जन्म 1870 के दशक के मध्य में हुआ। उनके पिता गरीब थे। बिरसा का बचपन भेड़-बकरियाँ चराते, बाँसुरी बजाते और स्थानीय अखाड़ों में नाचते-गाते बीता था। उनकी परवरिश मुख्य रूप से बोहोंडा के आस-पास के जंगलों में हुई। गरीबी से लाचार बिरसा के पिता को काम की तलाश में जगह-जगह भटकना पड़ता था। लड़कपन में ही बिरसा ने अतीत में हुए मुंडा विद्रोहों की कहानियाँ सुन ली थीं। उन्होंने कई बार समुदाय के सरदारों (मुखियाओं) को विद्रोह का आह्वान करते देखा था। बिरसा के समुदाय के लोग ऐसे स्वर्ण युग की बात किया करते थे जब मुंडा लोग *दीकुओं* के उत्पीड़न से पूरी तरह आज़ाद थे। सरदारों का कहना था कि एक बार फिर उनके समुदाय के परंपरागत अधिकार बहाल हो जाएँगे। वे खुद को इलाके के मूल निवासियों का वंशज मानते थे और अपनी ज़मीन की लड़ाई (मुल्क की लड़ाई) लड़ रहे थे। वे लोगों को याद दिलाते थे कि उन्हें अपना साम्राज्य वापस पाना है।

बिरसा स्थानीय मिशनरी स्कूल में जाने लगे जहाँ उन्हें मिशनरियों के उपदेश सुनने का मौका मिला। वहाँ भी उन्होंने यही सुना कि मुंडा समुदाय स्वर्ग का साम्राज्य हासिल कर सकता है और अपने खोये हुए अधिकार वापस पा सकता है। अगर वे अच्छे ईसाई बन जाएँ और अपनी "खराब आदतें" छोड़ दें तो ऐसा हो सकता है। बाद में बिरसा ने एक जाने-माने **वैष्णव** धर्म प्रचारक के साथ भी कुछ समय बिताया। उन्होंने जनेऊ धारण किया और शुद्धता व दया पर जोर देने लगे।

अपनी किशोरावस्था में बिरसा जिन विचारों के संपर्क में आए, उनसे वह काफ़ी गहरे तौर पर प्रभावित थे। बिरसा का आंदोलन आदिवासी समाज को सुधारने का आंदोलन था। उन्होंने मुंडाओं से आह्वान किया कि वे शराब पीना छोड़ दें, गाँवों को साफ़ रखें और डायन व जादू-टोने में विश्वास न करें। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि बिरसा ने मिशनरियों और हिंदू जमींदारों का भी लगातार विरोध किया। वह उन्हें बाहर का मानते थे जो मुंडा जीवन शैली को नष्ट कर रहे थे।

वैष्णव – विष्णु की पूजा करने वाले वैष्णव कहलाते हैं।

1895 में बिरसा ने अपने अनुयायियों से आह्वान किया कि वे अपने गौरवपूर्ण अतीत को पुनर्जीवित करने के लिए संकल्प लें। वह अतीत के एक ऐसे स्वर्ण युग – सतयुग – की चर्चा करते थे जब मुंडा लोग अच्छा जीवन जीते थे, तटबंध बनाते थे, कुदरती झरनों को नियंत्रित करते थे, पेड़ और बाग लगाते थे, पेट पालने के लिए खेती करते थे। उस काल्पनिक युग में मुंडा अपने बिरादरों और रिश्तेदारों का खून नहीं बहाते थे। वे ईमानदारी से जीते थे। बिरसा चाहते थे कि लोग एक बार फिर अपनी ज़मीन पर खेती करें, एक जगह टिक कर रहें और अपने खेतों में काम करें।

अंग्रेज़ों को बिरसा आंदोलन के राजनीतिक उद्देश्यों से बहुत ज्यादा परेशानी थी। यह आंदोलन मिशनरियों, महाजनों, हिंदू भूस्वामियों और सरकार को बाहर निकालकर बिरसा के नेतृत्व में मुंडा राज स्थापित करना चाहता था।

यह आंदोलन इन्हीं ताकतों को मुंडाओं की सारी समस्याओं व कष्टों का स्रोत मानता था। अंग्रेज़ों की भूनीतियाँ उनकी परंपरागत भूमि व्यवस्था को नष्ट कर रही थीं, हिंदू भूस्वामी और महाजन उनकी ज़मीन छीनते जा रहे थे और मिशनरी उनकी परंपरागत संस्कृति की आलोचना करते थे।

जब आंदोलन फैलने लगा तो अंग्रेज़ों ने सख्त कार्रवाई का फ़ैसला लिया। उन्होंने 1895 में बिरसा को गिरफ़्तार किया और दंगे-फ़साद के आरोप में दो साल की सज़ा सुनायी।

1897 में जेल से लौटने के बाद बिरसा समर्थन जुटाते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। उन्होंने लोगों को उकसाने के लिए परंपरागत प्रतीकों और भाषा का इस्तेमाल किया। वे आह्वान कर रहे थे कि उनके नेतृत्व में साम्राज्य की स्थापना के लिए "रावणों" (*दीकु* और यूरोपीयों) को तबाह कर दें। बिरसा के अनुयायी *दीकु* और यूरोपीय सत्ता के प्रतीकों को निशाना बनाने लगे। उन्होंने थाने और चर्चों पर हमले किए और महाजनों व ज़मींदारों की संपत्तियों पर धावा बोल दिया। सफ़ेद झंडा बिरसा राज का प्रतीक था।

सन् 1900 में बिरसा की हैज़े से मृत्यु हो गई और आंदोलन ठंडा पड़ गया। यह आंदोलन दो मायनों में महत्वपूर्ण था। पहला – इसने औपनिवेशिक सरकार को ऐसे कानून लागू करने के लिए मज़बूर किया जिनके ज़रिए *दीकु* लोग आदिवासियों की ज़मीन पर आसानी से कब्ज़ा न कर सकें। दूसरा, इसने एक बार फिर जता दिया कि अन्याय का विरोध करने और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अपने गुस्से को अभिव्यक्त करने में आदिवासी सक्षम हैं। उन्होंने अपने खास अंदाज़ में, अपनी खास रस्मों और संघर्ष के प्रतीकों के ज़रिए इस काम को अंजाम दिया।

फिर से याद करें

1. रिक्त स्थान भरें :

(क) अंग्रेज़ों ने आदिवासियों को .... के रूप में वर्णित किया।

(ख) झूम खेती में बीज बोने के तरीके को .... कहा जाता है।

(ग) मध्य भारत में ब्रिटिश भूमि बंदोबस्त के अंतर्गत आदिवासी मुखियाओं को .... स्वामित्व मिल गया।

(घ) असम के .... और बिहार की .... में काम करने के लिए आदिवासी जाने लगे।

अन्यत्र

हमें नक़दी की क्या ज़रूरत!

ऐसे बहुत सारे कारण हैं जिनकी वजह से आदिवासी और अन्य सामाजिक समूह प्राय: बाज़ार के लिए पैदावार नहीं करना चाहते। पापुआ न्यू गिनी के इस जनजातीय गीत में इस बात की झलक मिलती है कि वहाँ के आदिवासी बाज़ार को किस तरह देखते हैं।

कहते हैं नकदी
है बेकार का कूड़ा-करकट
बारिश ये रोक नहीं सकती
और देती है तकलीफ़ें

इन सरकारी मठाधीशों के लिए
क्यों मैं जोश से करूँ काम
क्यों मैं चढ़ूँ नारियल के पेड़ पर?

तो है नकदी फसलें अच्छी
लेकिन श्रीमान मुझे बताएँ
अगर ख़रीदने को नहीं है कुछ
तो मैं चिन्ता करूँ क्यों?

कोहेन, क्लार्क एवं हासवेल, सं., दि इकॉनॉमी ऑफ़ सब्सिस्टेंस एग्रीकल्चर (1970), में उद्धृत एक गीत पर आधारित।

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप उन्नीसवीं सदी के वन गाँव में रहने वाले झूम काश्तकार हैं। आपको कहा गया है कि जहाँ आप पैदा हुए हैं अब वह ज़मीन आपकी नहीं मानी जाएगी। अंग्रेज़ अफ़सरों से मिलकर आप अपनी समस्याओं के बारे में बताना चाहते हैं। आप उन्हें क्या बताएँगे?

2. सही या गलत बताएँ :

(क) झूम काश्तकार ज़मीन की जुताई करते हैं और बीज रोपते हैं।

(ख) व्यापारी संथालों से कृमिकोष खरीदकर उसे पाँच गुना ज़्यादा कीमत पर बेचते थे।

(ग) बिरसा ने अपने अनुयायियों का आह्वान किया कि वे अपना शुद्धिकरण करें, शराब पीना छोड़ दें और डायन व जादू-टोने जैसी प्रथाओं में यकीन न करें।

(घ) अंग्रेज़ आदिवासियों की जीवन पद्धति को बचाए रखना चाहते थे।

आइए विचार करें

3. ब्रिटिश शासन में घुमंतू काश्तकारों के सामने कौन सी समस्याएँ थीं?

4. औपनिवेशिक शासन के तहत आदिवासी मुखियाओं की ताकत में क्या बदलाव आए?

5. दीकुओं से आदिवासियों के गुस्से के क्या कारण थे?

6. बिरसा की कल्पना में स्वर्ण युग किस तरह का था? आपकी राय में यह कल्पना लोगों को इतनी आकर्षक क्यों लग रही थी?

आइए करके देखें

7. अपने माता-पिता दोस्तों या शिक्षकों से बात करके बीसवीं सदी के अन्य आदिवासी विद्रोहों के नायकों के नाम पता करें। उनकी कहानी अपने शब्दों में लिखें।

5 जब जनता बग़ावत करती है
1857 और उसके बाद

चित्र 1 – सिपाही और किसान विद्रोह के लिए ताकत जुटाते हैं। यह विद्रोह 1857 में उत्तर भारत के मैदानों में फैल गया था।

नीतियाँ और लोग

पिछले अध्यायों में आपने ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों और जनता पर उसके प्रभावों के बारे में पढ़ा। इन नीतियों से राजाओं, रानियों, किसानों, ज़मींदारों, आदिवासियों, सिपाहियों, सब पर तरह–तरह से असर पड़े। आप यह भी देख चुके हैं कि जो नीतियाँ और कार्रवाइयाँ जनता के हित में नहीं होतीं या जो उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाती हैं उनका लोग किस तरह विरोध करते हैं।

नवाबों की छिनती सत्ता

अठारहवीं सदी के मध्य से ही राजाओं और नवाबों की ताकत छिनने लगी थी। उनकी सत्ता और सम्मान, दोनों खत्म होते जा रहे थे। बहुत सारे दरबारों में रेज़िडेंट तैनात कर दिए गए थे। स्थानीय शासकों की स्वतंत्रता घटती जा रही थी। उनकी सेनाओं को भंग कर दिया गया था। उनके राजस्व वसूली के अधिकार व इलाके एक–एक करके छीने जा रहे थे।

बहुत सारे स्थानीय शासकों ने अपने हितों की रक्षा के लिए कंपनी के साथ बातचीत भी की। उदाहरण के लिए, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई चाहती थीं कि कंपनी उनके पति की मृत्यु के बाद उनके गोद लिए हुए बेटे को

राजा मान ले। पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहेब ने भी कंपनी से आग्रह किया कि उनके पिता को जो पेंशन मिलती थी वह मृत्यु के बाद उन्हें मिलने लगे। अपनी श्रेष्ठता और सैनिक ताकत के नशे में चूर कंपनी ने इन निवेदनों को ठुकरा दिया।

अवध की रियासत अंग्रेज़ों के कब्ज़े में जाने वाली आखिरी रियासतों में से थी। 1801 में अवध पर एक सहायक संधि थोपी गयी और 1856 में अंग्रेज़ों ने उसे अपने कब्ज़े में ले लिया। गवर्नर-जनरल डलहौज़ी ने ऐलान कर दिया कि रियासत का शासन ठीक से नहीं चलाया जा रहा है इसलिए शासन को दुरुस्त करने के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व जरूरी है।

कंपनी ने मुग़लों के शासन को खत्म करने की भी पूरी योजना बना ली थी। कंपनी द्वारा जारी किए गए सिक्कों पर से मुग़ल बादशाह का नाम हटा दिया गया। 1849 में गवर्नर जनरल डलहौज़ी ने ऐलान किया कि बहादुर शाह ज़फ़र की मृत्यु के बाद बादशाह के परिवार को लाल क़िले से निकाल कर उसे दिल्ली में कहीं और बसाया जाएगा। 1856 में गवर्नर-जनरल कैनिंग ने फ़ैसला किया कि बहादुर शाह ज़फ़र आखिरी मुग़ल बादशाह होंगे। उनकी मृत्यु के बाद उनके किसी भी वंशज को बादशाह नहीं माना जाएगा। उन्हें केवल राजकुमारों के रूप में मान्यता दी जाएगी।

किसान और सिपाही

गाँवों में किसान और ज़मींदार भारी-भरकम लगान और कर वसूली के सख्त तौर-तरीकों से परेशान थे। बहुत सारे लोग महाजनों से लिया कर्ज़ नहीं लौटा पा रहे थे। इसके कारण उनकी पीढ़ियों पुरानी ज़मीनें हाथ से निकलती जा रही थीं।

कंपनी के तहत काम करने वाले भारतीय सिपाहियों के असंतोष की अपनी वजह थी। वे अपने वेतन, भत्तों और सेवा शर्तों के कारण परेशान थे। कई नए नियम उनकी धार्मिक भावनाओं और आस्थाओं को ठेस पहुँचाते थे। क्या आप जानते हैं कि उस ज़माने में बहुत सारे लोग समुद्र पार नहीं जाना चाहते थे। उन्हें लगता था कि समुद्र यात्रा से उनका धर्म और जाति भ्रष्ट हो जाएँगे। जब 1824 में सिपाहियों को कंपनी की ओर से लड़ने के लिए समुद्र के रास्ते बर्मा जाने का आदेश मिला तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इनकार कर दिया। उन्हें ज़मीन के रास्ते से जाने में ऐतराज़ नहीं था। सरकार का हुक्म न मानने के कारण उन्हें सख्त सज़ा दी गई। क्योंकि यह मुद्दा अभी खत्म नहीं हुआ था इसलिए 1856 में कंपनी को एक नया कानून बनाना पड़ा। इस कानून में साफ़ कहा गया था कि अगर कोई व्यक्ति कंपनी की सेना में नौकरी करेगा तो ज़रूरत पड़ने पर उसे समुद्र पार भी जाना पड़ सकता है।

सिपाही गाँवों के हालात से भी परेशान थे। बहुत सारे सिपाही खुद किसान थे। वे अपने परिवार गाँवों में छोड़कर आए थे। लिहाज़ा, किसानों का गुस्सा जल्दी ही सिपाहियों में भी फैल गया।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप कंपनी की सेना में सिपाही हैं। आप नहीं चाहते कि आपका भतीजा कंपनी की फौज में नौकरी करे। आप उसे क्या कारण बताएँगे?

सुधारों पर प्रतिक्रिया

अंग्रेज़ों को लगता था कि भारतीय समाज को सुधारना जरूरी है। सती प्रथा को रोकने और विधवा विवाह को बढ़ावा देने के लिए कानून बनाए गए। अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा को जमकर प्रोत्साहन दिया गया। 1830 के बाद कंपनी ने ईसाई मिशनरियों को खुलकर काम करने और यहाँ तक कि ज़मीन व संपत्ति जुटाने की भी छूट दे दी। 1850 में एक नया कानून बनाया गया जिससे ईसाई धर्म को अपनाना और आसान हो गया। इस कानून में प्रावधान किया गया था कि अगर कोई भारतीय व्यक्ति ईसाई धर्म अपनाता है तो भी पुरखों की संपत्ति पर उसका अधिकार पहले जैसा ही रहेगा। बहुत सारे भारतीयों को यकीन हो गया था कि अंग्रेज़ उनका धर्म, उनके सामाजिक रीति-रिवाज और परंपरागत जीवनशैली को नष्ट कर रहे हैं।

दूसरी तरफ ऐसे भारतीय भी थे जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में बदलाव चाहते थे। इन सुधारकों और उनके सुधार आंदोलनों के बारे में आप अध्याय 7 में पढ़ेंगे।

चित्र 2 – उत्तर भारत के बाज़ारों में सिपाही खबरें और अफ़वाहें फैलाने लगते हैं।

जनता की नजर से

उस ज़माने में लोग अंग्रेज़ शासन के बारे में क्या सोच रहे थे, इसका जायजा लेने के लिए आप स्रोत 1 और 2 को पढ़ें।

स्रोत 1

चौरासी नियमों की सूची

यहाँ महाराष्ट्र के एक गाँव में रहने वाले ब्राह्मण विष्णुभट्ट गोडसे द्वारा लिखित पुस्तक *माझा प्रवास* के कुछ अंश दिए गए हैं। विष्णुभट्ट और उनके चाचा मथुरा में आयोजित किए जा रहे एक यज्ञ में भाग लेने के लिए निकले थे। विष्णुभट्ट लिखते हैं कि रास्ते में उनकी मुलाक़ात कुछ सिपाहियों से हुई जिन्होंने उन्हें सलाह दी कि वे वापस लौट जाएँ क्योंकि तीन दिन के भीतर चारों तरफ कोहराम मच जाएगा। सिपाहियों ने जो कहा वह इस प्रकार था :

> अंग्रेज़ सरकार हिंदुओं और मुसलमानों के धर्म को नष्ट करने पर आमादा है... उन्होंने चौरासी नियमों की एक सूची बनाई है और कलकत्ता में सारे राजाओं और राजकुमारों की मौजूदगी में उसका ऐलान कर दिया है। उन्होंने (सिपाहियों ने) बताया कि राजा इन नियमों को मानने के लिए तैयार नहीं है। उन्होंने अंग्रेज़ों को घातक परिणामों की चेतावनी दी है। राजाओं ने कहा है कि अगर ये नियम लागू किए गए तो भारी उथल-पुथल मच जाएगी... कि राजा भारी गुस्से में अपनी राजधानियों को लौट गए हैं... तमाम बड़े लोग योजनाएँ बना रहे हैं। धर्मयुद्ध के लिए तारीख तय कर ली गई थी और मेरठ छावनी से एक गुप्त योजना तैयार करके विभिन्न छावनियों में भेज दी गई थी।

विष्णुभट्ट गोडसे, माझा प्रवास पृष्ठ 23-24.

स्रोत 2

"जल्दी ही हर टुकड़ी में उत्तेजना छा गई"

उस दौर की एक और झलक सूबेदार सीताराम पांडे के संस्मरणों में मिलती है। सीताराम पांडे को 1812 में बंगाल नेटिव आर्मी में सिपाही के तौर पर भर्ती किया गया था। उन्होंने 48 साल तक नौकरी की और 1860 में वे सेवानिवृत हुए। उन्होंने बग़ावत को दबाने में अंग्रेज़ों की मदद की हालाँकि उनका बेटा भी विद्रोहियों के साथ था और अंग्रेज़ों ने उसे सीताराम की आँखों के सामने ही मार डाला था। अपने सेवानिवृती के बाद उनके कमान अफ़सर नॉरगेट ने उन्हें अपने संस्मरण लिखने के लिए प्रेरित किया। सीताराम ने 1861 में अवधी भाषा में अपने संस्मरण लिखे जिनका नॉरगेट ने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया और *फ्रॉम सिपॉय टू सूबेदार (सिपाही से सूबेदार तक)* के नाम से प्रकाशित करवाया।

सीताराम पांडे के संस्मरणों का एक अंश इस प्रकार था :

> मेरा मानना है कि अवध पर हुए कब्ज़े से सिपाहियों के भीतर गहरा अविश्वास भर गया था और वे सरकार के खिलाफ़ साज़िशें रचने लगे थे। अवध के नवाब और दिल्ली बादशाह के नुमाइंदों को सेना की नब्ज़ जानने के लिए पूरे भारत में भेज दिया गया। उन्होंने सिपाहियों की भावनाओं को और हवा दी। उन्होंने सिपाहियों को बताया कि विदेशियों ने बादशाह के साथ कितना बड़ा धोखा किया है। उन्होंने हज़ार झूठ गढ़ डाले और सिपाहियों को अपने मालिकों, अंग्रेज़ों के खिलाफ़ बगावत करने के लिए उकसाया ताकि दिल्ली में बादशाह को दोबारा गद्दी पर बैठाया जा सके। उनकी दलील थी कि अगर सिपाही मिलकर काम करें और इन सुझावों पर अमल करें तो सेना ऐसा कर सकती है।

चित्र 3 – मेरठ में विद्रोही सिपाही अफसरों पर हमला करते हैं, उनके घरों में घुस जाते हैं और इमारतों में आग लगा देते हैं।

स्रोत 2 जारी...

स्रोत 2 का शेष...

संयोग से इसी समय सरकार ने हरेक रेजिमेंट के कुछ लोगों को नयी राइफल के इस्तेमाल का तरीका बताने के लिए अलग-अलग छावनियों में भेजा। इन लोगों ने कुछ समय तक सिपाहियों को प्रशिक्षण दिया। इसी दौरान न जाने कहाँ से यह ख़बर फैल गई कि इन राइफलों में इस्तेमाल होने वाले कारतूसों पर गाय और सुअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया है। हमारी रेजिमेंट के लोग दूसरे लोगों को लिखकर यह ख़बर भेजने लगे और जल्दी ही हरेक रेजिमेंट में उत्तेजना का माहौल बन गया। कुछ लोगों ने कहा कि उनकी चालीस साल की नौकरी में सरकार ने उनके मज़हब को चोट पहुँचाने के लिए कभी कुछ नहीं किया था। लेकिन जैसा कि मैंने पहले ही ज़िक्र किया, अवध पर कब्ज़े के कारण सिपाही पहले ही गुस्से में थे। स्वार्थी लोगों ने फ़ौरन यह कहानी गढ़ दी कि अंग्रेज़ तो सबको ईसाई बनाना चाहते हैं इसीलिए उन्होंने ऐसे कारतूस तैयार किए हैं ताकि उन्हें इस्तेमाल करने से मुसलमान और हिंदू, दोनों ही भ्रष्ट हो जाएँ।

कर्नल साहब का मानना था कि यह बेचैनी, जो उन्हें भी साफ़ दिखाई दे रही थी, इस बार भी अपने आप खत्म हो जाएगी और उन्होंने मुझे घर चले जाने की हिदायत दी।

सीताराम पाँडे, फ़्रॉम सिपॉय टू सूबेदार, पृष्ठ 162-63

गतिविधि

1. सीताराम और विष्णुभट्ट के मुताबिक लोगों के दिमाग में मुख्य चिंताएँ कौन सी थीं?
2. उनकी राय में शासकों ने क्या भूमिका निभाई? सिपाही क्या भूमिका निभाते दिखाई दे रहे थे?

सैनिक विद्रोह जनविद्रोह बन गया

यद्यपि शासक और प्रजा के बीच संघर्ष कोई अनोखी बात नहीं होती लेकिन कभी-कभी ये संघर्ष इतने फैल जाते हैं कि राज्य की सत्ता छिन्न-भिन्न हो जाती है। बहुत सारे लोग मानने लगे हैं कि उन सबका शत्रु एक है। इसलिए वे सभी कुछ करना चाहते हैं। इस तरह की स्थिति में हालात अपने हाथ में लेने के लिए लोगों को संगठित होना पड़ता है, उन्हें संचार, पहलक़दमी और आत्मविश्वास का परिचय देना होता है।

भारत के उत्तरी भागों में 1857 में ऐसी ही स्थिति पैदा हो गई थी। फ़तह और शासन के 100 साल बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को एक भारी विद्रोह से जूझना पड़ रहा था। मई 1857 में शुरू हुई इस बग़ावत ने भारत में कंपनी का अस्तित्व ही खतरे में डाल दिया था। मेरठ से शुरू करके सिपाहियों ने कई जगह बग़ावत की। समाज के विभिन्न तबकों के असंख्य लोग विद्रोही तेवरों के साथ उठ खड़े हुए। कुछ लोग मानते हैं कि उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद के खिलाफ दुनिया भर में यह सबसे बड़ा सशस्त्र संघर्ष था।

सैनिक विद्रोह – जब सिपाही इकट्ठा होकर अपने सैनिक अफ़सरों का हुक्म मानने से इनकार कर देते हैं।

चित्र 4 – कैवेलरी लाइनों में युद्ध।
3 जुलाई 1857 को 3,000 से ज्यादा विद्रोही बरेली से दिल्ली आ पहुँचे। उन्होंने यमुना को पार किया और ब्रिटिश कैवेलरी चौकियों पर धावा बोल दिया। यह युद्ध पूरी रात चलता रहा।

मेरठ से दिल्ली तक

29 मार्च 1857 को युवा सिपाही – मंगल पांडे – को बैरकपुर में अपने अफ़सरों पर हमला करने के आरोप में फाँसी पर लटका दिया गया। चंद दिन बाद मेरठ में तैनात कुछ सिपाहियों ने नए कारतूसों के साथ फ़ौजी अभ्यास करने से इनकार कर दिया। सिपाहियों को लगता था कि उन कारतूसों पर गाय और सूअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया था। 85 सिपाहियों को नौकरी से निकाल दिया गया। उन्हें अपने अफ़सरों का हुक्म न मानने के आरोप में 10–10 साल की सजा दी गई। यह 9 मई 1857 की बात है।

मेरठ में तैनात दूसरे भारतीय सिपाहियों की प्रतिक्रिया बहुत ज़बरदस्त रही। 10 मई को सिपाहियों ने मेरठ की जेल पर धावा बोलकर वहाँ बंद सिपाहियों को आज़ाद करा लिया। उन्होंने अंग्रेज़ अफ़सरों पर हमला करके उन्हें मार गिराया। उन्होंने बंदूक और हथियार कब्ज़े में ले लिए और अंग्रेज़ों की इमारतों व संपत्तियों को आग के हवाले कर दिया। उन्होंने **फ़िरंगियों** के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। सिपाही पूरे देश में अंग्रेज़ों के शासन को खत्म करने पर आमादा थे। लेकिन सवाल यह था कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद देश का शासन कौन चलाएगा। सिपाहियों ने इसका भी जवाब ढूँढ़ लिया था। वे मुग़ल सम्राट बहादुर शाह ज़फ़र को देश का शासन सौंपना चाहते थे।

मेरठ के कुछ सिपाहियों की एक टोली 10 मई की रात को घोड़ों पर सवार होकर मुँह अँधेरे ही दिल्ली पहुँच गई। जैसे ही उनके आने की ख़बर फैली, दिल्ली में तैनात टुकड़ियों ने भी बगावत कर दी। यहाँ भी अंग्रेज़ अफसर मारे गए। देशी सिपाहियों ने हथियार व गोला बारूद कब्ज़े में ले लिया और इमारतों को आग लगा दी। विजयी सिपाही लाल किले की दीवारों के आसपास जमा हो गए। वे बादशाह से मिलना चाहते थे। बादशाह अंग्रेज़ों की भारी ताकत से दो–दो हाथ करने को तैयार

फ़िरंगी – विदेशी। इस शब्द में अपमान का भाव आता है।

नहीं थे लेकिन सिपाही भी अड़े रहे। आखिरकार वे जबरन महल में घुस गए और उन्होंने बहादुर शाह ज़फ़र को अपना नेता घोषित कर दिया।

बूढ़े बादशाह को सिपाहियों की यह माँग माननी पड़ी। उन्होंने देश भर के मुखियाओं और शासकों को चिट्ठी लिखकर अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए भारतीय राज्यों का एक संघ बनाने का आह्वान किया। बहादुर शाह के इस एकमात्र कदम के गहरे परिणाम सामने आए।

अंग्रेज़ों से पहले देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर मुग़ल साम्राज्य का ही शासन था। ज़्यादातर छोटे शासक और रजवाड़े मुग़ल बादशाह के नाम पर ही अपने इलाकों का शासन चलाते थे। ब्रिटिश शासन के विस्तार से भयभीत ऐसे बहुत सारे शासकों को लगता था कि अगर मुग़ल बादशाह दोबारा शासन स्थापित कर लें तो वे मुग़ल आधिपत्य में दोबारा अपने इलाकों का शासन बेफिक्र होकर चलाने लगेंगे।

अंग्रेज़ों को इन घटनाओं की उम्मीद नहीं थी। उन्हें लगता था कि कारतूसों के मुद्दे पर पैदा हुई उथल-पुथल कुछ समय में शांत हो जाएगी। लेकिन जब बहादुर शाह ज़फ़र ने बग़ावत को अपना समर्थन दे दिया तो स्थिति रातोरात बदल गई। अकसर ऐसा होता है कि जब लोगों को कोई रास्ता दिखाई देने लगता है तो उनका उत्साह और साहस बढ़ जाता है। इससे उन्हें आगे बढ़ने की हिम्मत, उम्मीद और आत्मविश्वास मिलता है।

बग़ावत फैलने लगी

जब दिल्ली से अंग्रेज़ों के पैर उखड़ गए तो लगभग एक हफ़्ते तक कहीं कोई विद्रोह नहीं हुआ। ज़ाहिर है ख़बर फैलने में भी कुछ समय तो लगना ही था। लेकिन फिर तो विद्रोहों का सिलसिला ही शुरू हो गया।

एक के बाद एक, हर रेजिमेंट में सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और वे दिल्ली, कानपुर व लखनऊ जैसे मुख्य बिंदुओं पर दूसरी टुकड़ियों का साथ देने को निकल पड़े। उनकी देखा-देखी कस्बों और गाँवों के लोग भी बग़ावत के रास्ते पर चलने लगे। वे स्थानीय नेताओं, ज़मींदारों और मुखियाओं के पीछे संगठित हो गए। ये लोग अपनी सत्ता स्थापित करने और अंग्रेज़ों से लोहा लेने को तैयार थे। स्वर्गीय पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहेब कानपुर के पास रहते थे। उन्होंने सेना इकट्ठा की और ब्रिटिश सैनिकों को शहर से खदेड़ दिया। उन्होंने खुद को पेशवा घोषित कर दिया। उन्होंने ऐलान किया कि वह बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र के तहत गवर्नर हैं। लखनऊ की गद्दी से हटा दिए गए नवाब वाजिद अली शाह के बेटे बिरजिस क़द्र को नया नवाब घोषित कर दिया गया।
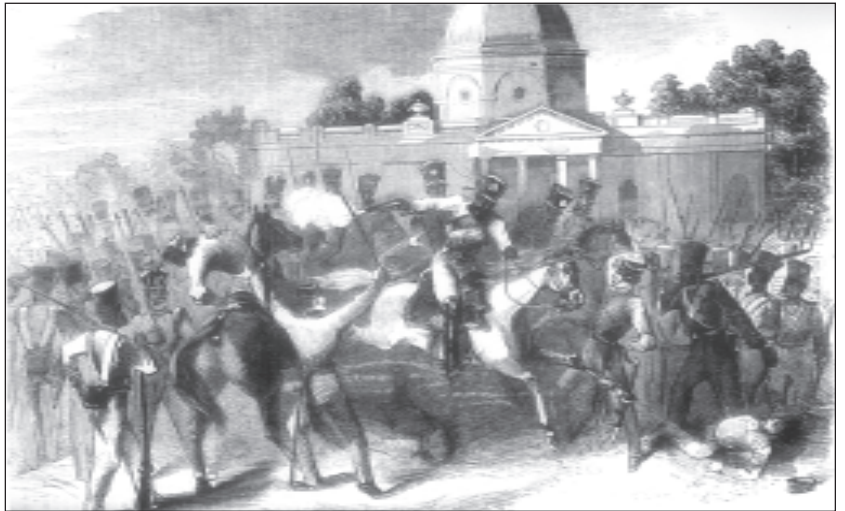
चित्र 5 – जैसे-जैसे विद्रोह फैला, छावनियों में अंग्रेज़ अफ़सरों को मारा जाने लगा।

> **गतिविधि**
>
> 1. मुग़ल सम्राट विद्रोहियों का समर्थन करने के लिए क्यों तैयार हुए?
> 2. सिपाहियों के प्रस्ताव को मानने से पहले उन्होंने हालात का जो हिसाब लगाया होगा उसके बारे में एक अनुच्छेद लिखें।

बिरजिस क़द्र ने भी बहादुर शाह ज़फ़र को अपना बादशाह मान लिया। उनकी माँ बेगम हज़रत महल ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ विद्रोहों को बढ़ावा देने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई भी विद्रोही सिपाहियों के साथ जा मिलीं। उन्होंने नाना साहेब के सेनापति ताँत्या टोपे के साथ मिलकर अंग्रेज़ों को भारी चुनौती दी।

विद्रोही टुकड़ियों के सामने अंग्रेज़ों की संख्या बहुत कम थी। बहुत सारे मोर्चों पर उनकी जबरदस्त हार हुई। इससे लोगों को यक़ीन हो गया कि अब अंग्रेज़ों का शासन खत्म हो चुका है। अब लोगों को विद्रोहों में कूद पड़ने का गहरा आत्मविश्वास मिल गया था। खासतौर से अवध के इलाके में चौतरफा बग़ावत की स्थिति थी। 6 अगस्त 1857 को लेफ्टिनेंट कर्नल टाइटलर ने अपने कमांडर-इन-चीफ़ को टेलीग्राम भेजा जिसमें उसने अंग्रेज़ों के भय को व्यक्त किया था : "हमारे लोग विरोधियों की संख्या और लगातार लड़ाई से थक गए हैं। एक-एक गाँव हमारे खिलाफ़ है। ज़मींदार भी हमारे खिलाफ़ खड़े हो रहे हैं।"

इस दौरान बहुत सारे महत्वपूर्ण नेता सामने आए। उदाहरण के लिए, फ़ैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला शाह ने भविष्यवाणी कर दी कि अंग्रेज़ों का शासन जल्दी ही खत्म हो जाएगा। वह समझ चुके थे कि जनता क्या चाहती है। इसी आधार पर उन्होंने अपने समर्थकों की एक विशाल संख्या जुटा ली। अपने समर्थकों के साथ वे भी अंग्रेज़ों से लड़ने लखनऊ जा पहुँचे। दिल्ली में अंग्रेज़ों का सफ़ाया करने के लिए बहुत सारे ग़ाज़ी यानी धर्मयोद्धा इकट्ठा हो गए थे। बरेली के सिपाही बख़्त खान ने लड़ाकों की एक विशाल टुकड़ी के साथ दिल्ली की ओर कूच कर दिया। वह इस बगावत में एक मुख्य व्यक्ति साबित हुए। बिहार के एक पुराने ज़मींदार कुँवर सिंह ने भी विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया और महीनों तक अंग्रेज़ों से लड़ाई लड़ी। तमाम इलाकों के नेता और लड़ाके इस युद्ध में हिस्सा ले रहे थे।

चित्र 6 – ब्रिटिश टुकड़ियाँ विद्रोहियों पर हमला करती हैं जिन्होंने दिल्ली के लाल क़िले (दाएँ) तथा सलीमगढ़ किले (बाएँ) पर कब्ज़ा किया हुआ था।

चित्र 7 : विद्रोही सिपाही मेरठ से दिल्ली की तरफ कूच करते हैं।

शुरू में, अंग्रेज़ी सेनाओं को दिल्ली की भारी किले-बंदी को तोड़ने में मुश्किल हुई। 3 सितंबर 1857 को अंग्रेज़ी सेनाओं को और ज़्यादा हथियार गोले आदि पहुंचाये गए। ये गाड़ियों पर लदे हुए थे जिन्हें हाथी खींच रहे थे और इनकी कतार 7 मील लंबी थी।
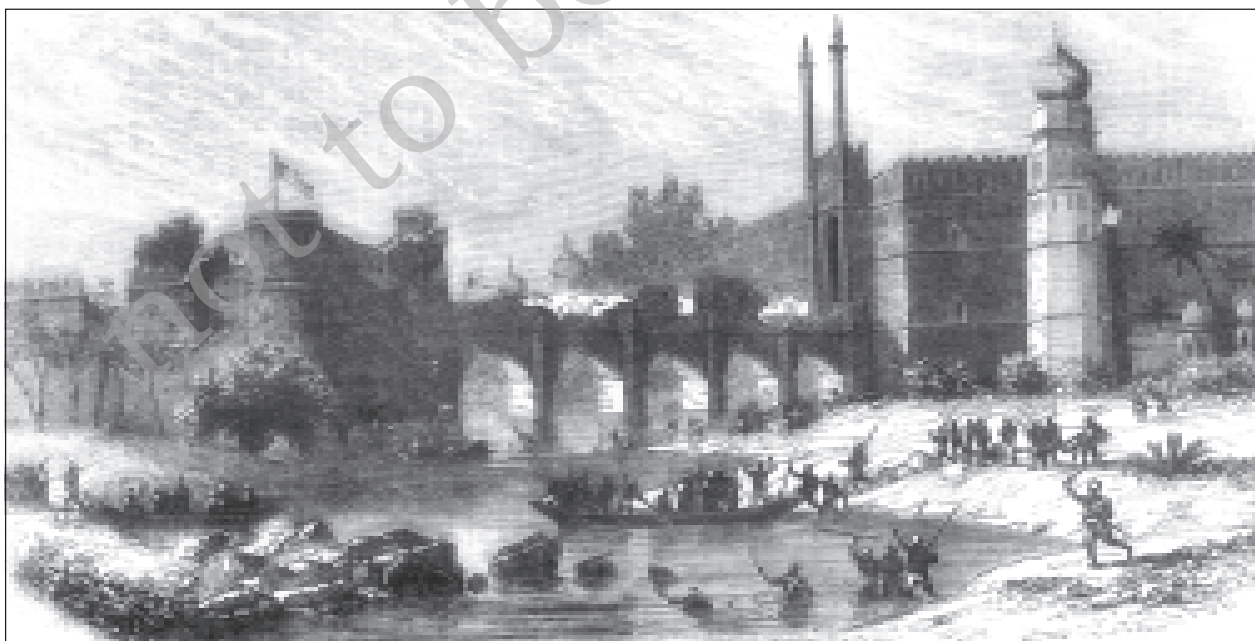
कंपनी का पलटवार

इस उथल-पुथल के बावजूद अंग्रेज़ों ने हिम्मत नहीं छोड़ी। कंपनी ने अपनी पूरी ताकत लगाकर विद्रोह को कुचलने का फैसला लिया। उन्होंने इंग्लैंड से और फ़ौजी मँगवाए, विद्रोहियों को जल्दी सज़ा देने के लिए नए कानून बनाए और विद्रोह के मुख्य केंद्रों पर धावा बोल दिया। सितंबर 1857 में दिल्ली दोबारा अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गई। अंतिम मुग़ल बादशाह बहादुर शाह ज़फ़र पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई। उनके बेटों को उनकी आँखों के सामने गोली मार दी गई। बहादुर शाह और उनकी पत्नी बेगम ज़ीनत महल को अक्तूबर 1858 में रंगून जेल में भेज दिया गया। इसी जेल में नवंबर 1862 में बहादुर शाह ज़फ़र ने अंतिम साँस ली।

दिल्ली पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो जाने का यह मतलब नहीं था कि विद्रोह खत्म हो चुका था। इसके बाद भी लोग अंग्रेज़ों से टक्कर लेते रहे। व्यापक बगावत की विशाल ताकत को कुचलने के लिए अंग्रेज़ों को अगले दो साल तक लड़ाई लड़नी पड़ी।

मार्च 1858 में लखनऊ अंग्रेज़ों के कब्ज़े में चला गया। जून 1858 में रानी लक्ष्मीबाई की शिकस्त हुई और उन्हें मार दिया गया। ताँत्या टोपे मध्य भारत के जंगलों में रहते हुए आदिवासियों और किसानों की सहायता से छापामार युद्ध चलाते रहे।

जिस तरह पहले अंग्रेज़ों के खिलाफ़ मिली सफलताओं से विद्रोहियों को उत्साह मिला था उसी तरह विद्रोही ताकतों की हार से लोगों की हिम्मत टूटने लगी। बहुत सारे लोगों ने विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया। अंग्रेज़ों ने भी लोगों

गतिविधि

उन स्थानों की सूची बनाएँ जहाँ 1857 के मई, जून और जुलाई महीनों में विद्रोह हुए।
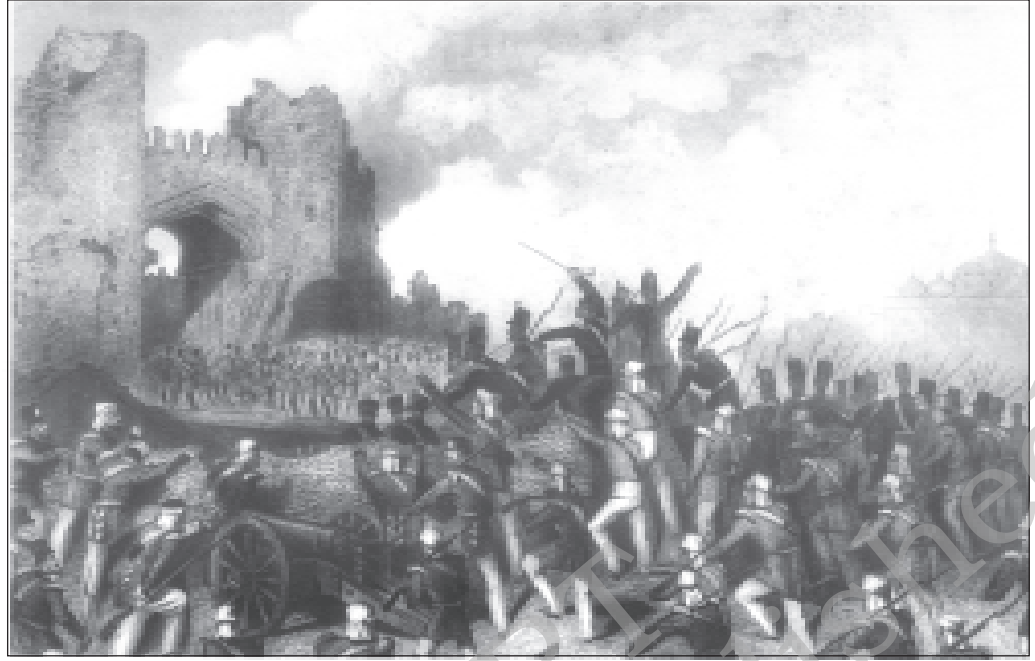
चित्र 8 – अंग्रेज़ टुकड़ियाँ दिल्ली में घुसने के लिए कश्मीरी गेट को बारूद से उड़ा देती हैं।

का विश्वास जीतने के लिए हर संभव प्रयास किया। उन्होंने वफ़ादार भूस्वामियों के लिए ईनामों का ऐलान कर दिया। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनकी ज़मीन पर उनके परंपरागत अधिकार बने रहेंगे। जिन्होंने विद्रोह किया था उनसे कहा गया कि अगर वे अंग्रेज़ों के सामने समर्पण कर देते हैं और अगर उन्होंने किसी अंग्रेज़ की हत्या नहीं की है तो वे सुरक्षित रहेंगे और ज़मीन पर उनके अधिकार और दावेदारी बनी रहेगी। इसके बावजूद सैकड़ों सिपाहियों, विद्रोहियों, नवाबों और राजाओं पर मुक़दमे चलाए गए और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

चित्र 9 – अंग्रेज़ टुकड़ियाँ कानपुर के पास विद्रोहियों को पकड़ लेती हैं।

ध्यान से देखें कि किस तरह कलाकार ने अंग्रेज़ सिपाहियों को बहादुरी से विद्रोहियों पर धावा बोलते हुए दिखाया है।

विद्रोह के बाद के साल

अंग्रेज़ों ने 1859 के आखिर तक देश पर दोबारा नियंत्रण पा लिया था लेकिन अब वे पहले वाली नीतियों के सहारे शासन नहीं चला सकते थे।

अंग्रेज़ों ने जो अहम बदलाव किए वे निम्नलिखित हैं :

1. ब्रिटिश संसद ने 1858 में एक नया कानून पारित किया और ईस्ट इंडिया कंपनी के सारे अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के हाथ में सौंप दिए ताकि भारतीय मामलों को ज्यादा बेहतर ढंग से सँभाला जा सके। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य को भारत मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया। उसे भारत के

शासन से संबंधित मामलों को सँभालने का जिम्मा सौंपा गया। उसे सलाह देने के लिए एक परिषद का गठन किया गया जिसे इंडिया काउंसिल कहा जाता था। भारत के गवर्नर–जनरल को वायसराय का ओहदा दिया गया। इस प्रकार उसे इंगलैंड के राजा/रानी का निजी प्रतिनिधि घोषित कर दिया गया। फलस्वरूप, अंग्रेज़ सरकार ने भारत के शासन की ज़िम्मेदारी सीधे अपने हाथों में ले ली।

2. देश के सभी शासकों को भरोसा दिया गया कि भविष्य में कभी भी उनके भूक्षेत्र पर कब्ज़ा नहीं किया जाएगा। उन्हें अपनी रियासत अपने वंशजों, यहाँ तक कि दत्तक पुत्रों को सौंपने की छूट दे दी गई। लेकिन उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे ब्रिटेन की रानी को अपना अधिपति स्वीकार करें। इस तरह, भारतीय शासकों को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन शासन चलाने की छूट दी गई।

3. सेना में भारतीय सिपाहियों का अनुपात कम करने और यूरोपिय सिपाहियों की संख्या बढ़ाने का फैसला लिया गया। यह भी तय किया गया कि अवध, बिहार, मध्य भारत और दक्षिण भारत से सिपाहियों को भर्ती करने की बजाय अब गोरखा, सिखों और पठानों में से ज़्यादा सिपाही भर्ती किए जाएँगे।

4. मुसलमानों की ज़मीन और संपत्ति बड़े पैमाने पर ज़ब्त की गई। उन्हें संदेह व शत्रुता के भाव से देखा जाने लगा। अंग्रेज़ों को लगता था कि यह विद्रोह उन्होंने ही खड़ा किया था।
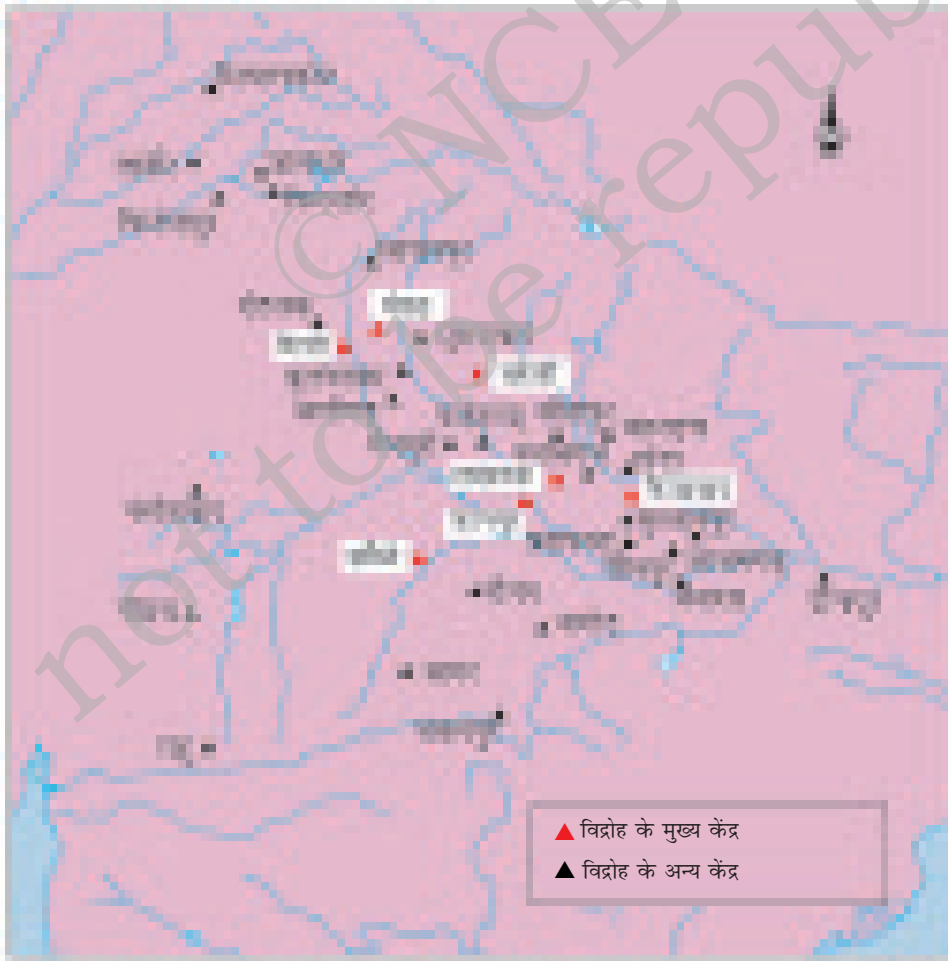
चित्र 10 – उत्तरी भारत में विद्रोह के कुछ प्रमुख केंद्र।

अन्यत्र

परम शांति के एक स्वर्गिक साम्राज्य की खातिर

चित्र 11 – ताइपिंग की सेना अपने नेता से मिलते हुए

जब 1857 में भारत में विद्रोह फैला उसी समय चीन के दक्षिणी भागों में भी एक विशाल जनविद्रोह पैदा हो रहा था। यह विद्रोह 1850 में शुरू हुआ और 1860 के मध्य में जाकर खत्म हुआ। हाँग जिकुआंग के नेतृत्व में हज़ारों मेहनतकश, गरीब लोगों ने परम शांति के स्वर्गिक साम्राज्य की स्थापना के लिए लड़ाई लड़ी। इस विद्रोह को ताइपिंग विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

हाँग जिकुआंग ने धर्मांतरण करके ईसाई धर्म अपना लिया था और वह कन्फ़्यूशियसवाद और बौद्ध आदि परंपरागत चीनी धर्मों के खिलाफ़ थे। ताइपिंग के विद्रोही एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे जहाँ ईसाई धर्म को माना जाएगा, जहाँ किसी के पास निजी संपत्ति नहीं होगी, जहाँ सामाजिक वर्गों और स्त्री-पुरुष के बीच कोई भेद नहीं होगा, जहाँ अफ़ीम, तंबाकू, शराब के सेवन तथा जुए, वेश्यावृति और गुलामी पर पाबंदी होगी।

चीन में तैनात अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी सेनाओं ने ताइपिंग विद्रोह को दबाने के लिए किंग (Qing) साम्राज्य के बादशाह को काफी मदद दी।

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि आप विद्रोह के दौरान अवध में तैनात ब्रिटिश अधिकारी हैं। विद्रोहियों से लड़ाई की अपनी योजनाओं को गुप्त रखने के लिए आप क्या करेंगे?

5. अंग्रेज़ों ने फ़ैसला किया कि वे भारत के लोगों के धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों का सम्मान करेंगे।

6. भूस्वामियों और ज़मींदारों की रक्षा करने तथा ज़मीन पर उनके अधिकारों को स्थायित्व देने के लिए नीतियाँ बनाई गईं।

इस प्रकार, 1857 के बाद इतिहास का एक नया चरण शुरू हुआ।

फिर से याद करें

1. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की अंग्रेज़ों से ऐसी क्या माँग थी जिसे अंग्रेज़ों ने ठुकरा दिया?
2. ईसाई धर्म अपनाने वालों के हितों की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों ने क्या किया?
3. सिपाहियों को नए कारतूसों पर क्यों ऐतराज़ था?
4. अंतिम मुग़ल बादशाह ने अपने आखिरी साल किस तरह बिताए?

आइए विचार करें

5. मई 1857 से पहले भारत में अपनी स्थिति को लेकर अंग्रेज़ शासकों के आत्मविश्वास के क्या कारण थे?
6. बहादुर शाह ज़फ़र द्वारा विद्रोहियों को समर्थन दे देने से जनता और राज-परिवारों पर क्या असर पड़ा?
7. अवध के बागी भूस्वामियों से समर्पण करवाने के लिए अंग्रेज़ों ने क्या किया?
8. 1857 की बग़ावत के फलस्वरूप अंग्रेज़ों ने अपनी नीतियाँ किस तरह बदलीं?

आइए करके देखें

9. पता लगाएँ कि सन सत्तावन की लड़ाई के बारे में आपके इलाके या आपके परिवार के लोगों को किस तरह की कहानियाँ और गीत याद हैं? इस महान विद्रोह से संबंधित कौन सी यादें अभी लोगों को उत्तेजित करती हैं?
10. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के बारे में और पता लगाएँ। आप उन्हें अपने समय की एक विलक्षण महिला क्यों मानते हैं?

चित्र 12 – लखनऊ रेज़िडेंसी के खण्डहर।

जून 1857 में विद्रोही टुकड़ियों ने रेजिडेंसी को कब्ज़े में ले लिया। बहुत सारी अंग्रेज़ औरतों, मर्दों और बच्चों ने रेजिडेंसी की इमारतों में पनाह ली हुई थी। विद्रोहियों ने इस पूरे परिसर को घेरकर उन पर गोलों से हमला किया। इसी तरह के एक गोले से अवध के चीफ़ कमिश्नर हेनरी लॉरेंस की भी मौत हो गई थी। हेनरी लॉरेंस जिस कमरे में मरे वह इस चित्र में दिखाई दे रहा है। ग़ौर से देखें कि इमारतों पर बीते दौर के निशान किस तरह बचे रह जाते हैं।

6 उपनिवेशवाद और शहर

एक शाही राजधानी की कहानी

औपनिवेशिक शासन में शहरों का क्या हुआ?

आप देख चुके हैं कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद गाँवों का जीवन किस तरह बदल गया था। इसी समय शहरों में क्या हो रहा था? इसका जवाब इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस तरह के क़स्बे या शहर की चर्चा करते हैं। मदुरै जैसे मंदिरों के शहर का इतिहास ढाका जैसे उत्पादन शहरों या सूरत जैसे बंदरगाह या एक साथ कई तरह के काम करने वाले क़स्बों से बिलकुल अलग मिलेगा।

पश्चिमी विश्व के ज़्यादातर भागों में आधुनिक शहर औद्योगीकरण के साथ सामने आए थे। ब्रिटेन में लीड्स और मैनचेस्टर जैसे औद्योगिक शहर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में तेज़ी से फैले क्योंकि बहुत सारे लोग नौकरी, मकान और अन्य सुविधाओं की उम्मीद में इन शहरों की तरफ आ रहे थे। लेकिन, उन्नीसवीं सदी में भारतीय शहर पश्चिम यूरोप के शहरों की तरह तेज़ी से नहीं फैले। ऐसा क्यों हुआ?

***चित्र 1** – मछलीपट्नम का एक दृश्य, 1672*

मछलीपट्नम सत्रहवीं शताब्दी में एक महत्वपूर्ण बंदरगाह के रूप में विकसित हुआ। अठाहरवीं सदी के आखिर में जब व्यापार बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के नए ब्रिटिश बंदरगाहों पर केंद्रित होने लगा तो उसका महत्व घटता गया।

अठारहवीं सदी के आखिर में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास का महत्व **प्रेज़िडेंसी** शहरों के रूप में तेज़ी से बढ़ रहा था। ये शहर भारत में ब्रिटिश सत्ता के केंद्र बन गए थे। उसी समय बहुत सारे दूसरे शहर कमज़ोर पड़ते जा रहे थे। ख़ास चीज़ों के उत्पादन वाले बहुत सारे शहर इसलिए पिछड़ने लगे क्योंकि वहाँ जो चीज़ें बनती थीं उनकी माँग घट गई थी। जब व्यापार नए इलाकों में केंद्रित होने लगा तो पुराने व्यापारिक केंद्र और बंदरगाह पहली वाली स्थिति में नहीं रहे। इसी प्रकार, जब अंग्रेज़ों ने स्थानीय राजाओं को हरा दिया और शासन के नए केंद्र पैदा हुए तो क्षेत्रीय सत्ता के पुराने केंद्र भी ढह गए। इस प्रक्रिया को अकसर **विशहरीकरण** कहा जाता है। मछलीपट्नम, सूरत और श्रीरंगपट्म जैसे शहरों का उन्नीसवीं सदी में काफी ज़्यादा विशहरीकरण हुआ। बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में केवल 11 प्रतिशत लोग शहरों में रहते थे।

प्रेज़िडेंसी – शासन की सुविधा के लिहाज़ से औपनिवेशिक भारत को तीन "प्रेज़िडेंसी" (बम्बई, मद्रास और बंगाल) में बाँट दिया गया था। ये तीनों प्रेज़िडेंसी सूरत, मद्रास और कलकत्ता में स्थित ईस्ट इंडिया कंपनी की "फैक्ट्रियों" (व्यापारिक चौकियों) को ध्यान में रखकर बनायी गई थीं।

चित्र 2 – अठारहवीं सदी में बम्बई का बंदरगाह।
जब ईस्ट इंडिया कंपनी पश्चिमी भारत में बम्बई को मुख्य बंदरगाह के रूप में इस्तेमाल करने लगी तो बम्बई शहर फैलने लगा।

ऐतिहासिक शाही शहर दिल्ली उन्नीसवीं सदी में एक धूल भरा छोटा-सा क़स्बा बन कर रह गया था। परंतु, 1912 में ब्रिटिश भारत की राजधानी बनने के बाद इसमें दोबारा जान आ गई। आइए दिल्ली की कहानी को देखकर समझें कि औपनिवेशिक शासन के दौरान यहाँ क्या चल रहा था।

नयी दिल्ली से पहले और कितनी 'दिल्लियाँ' थीं?

आप दिल्ली को आधुनिक भारत की राजधानी के रूप में देखते रहे हैं। क्या आपको मालूम है कि यह शहर एक हज़ार साल से भी ज़्यादा समय तक राजधानी रह चुका है। इस दौरान इसमें छोटे-मोटे अंतराल भी आते रहे हैं। यमुना नदी के बाएँ किनारे पर लगभग साठ वर्ग मील के छोटे से क्षेत्रफल में कम से कम 14 राजधानियाँ अलग-अलग समय पर बसाई गईं। आधुनिक

शहरीकरण – ऐसी प्रक्रिया जिसमें अधिक से अधिक लोग शहरों और क़स्बों में जाकर रहने लगते हैं।

चित्र 3 – उन्नीसवीं सदी के मध्य में शाहजहाँनाबाद की एक तसवीर, दि इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज़, 16 जनवरी 1858.
आप बाईं ओर लाल क़िला देख सकते हैं। शहर को घेरने वाली दीवारों को ध्यान से देखें। बीचोंबीच चाँदनी चौक का मुख्य रास्ता दिखाई दे रहा है। देखिए कि यमुना नदी लाल क़िले से सटकर बह रही है। अब इसका रास्ता कुछ बदल गया है। जहाँ नाव किनारे की तरफ बढ़ रही है उसे अब दरियागंज कहा जाता है (*दरिया* का मतलब नदी, और *गंज* का मतलब बाज़ार)।

नगर राज्य दिल्ली में घूमने पर इन सारी राजधानियों के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें बारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच बसाए गए राजधानी शहर सबसे महत्वपूर्ण थे।

इन सारी राजधानियों में सबसे शानदार राजधानी शाहजहाँ ने बसाई थी। शाहजहाँनाबाद की स्थापना 1639 में शुरू हुई। इसके भीतर एक क़िला-महल और बगल में सटा शहर था। लाल पत्थर से बने लाल क़िले में महल परिसर बनाया गया था। इसके पश्चिम की ओर 14 दरवाजों वाला पुराना शहर था। चाँदनी चौक और फैज़ बाज़ार की मुख्य सड़कें इतनी चौड़ी थीं कि वहाँ से शाही यात्राएँ आसानी से निकल सकती थीं। चाँदनी चौक के बीचोंबीच नहर थी।

घने मौहल्लों और दर्जनों बाज़ारों से घिरी जामा मसजिद भारत की सबसे विशाल और भव्य मसजिदों में से एक थी। उस समय पूरे शहर में इस मसजिद से ऊँचा कोई स्थान नहीं था।

शाहजहाँ के समय दिल्ली सूफ़ी संस्कृति का भी एक अहम केंद्र हुआ करती थी। यहाँ कई **दरगाह, ख़ानकाह**, और **ईदगाह** थीं। बड़े-बड़े चौराहों, टेढ़ी-मेढ़ी गलियों, खामोश **कुल-दे-सेक** और जलधाराओं पर दिल्ली वालों

दरगाह – सूफ़ी संत का मक़बरा।
ख़ानकाह – यात्रियों के लिए विश्राम घर और ऐसा स्थान जहाँ लोग आध्यात्मिक मामलों पर चर्चा करते हैं, संतों का आशीर्वाद लेते हैं या नृत्य - संगीत कार्यक्रमों का आनंद लेते हैं।
ईदगाह – मुसलमानों का खुला प्रार्थना स्थल जहाँ सार्वजनिक प्रार्थना और त्योहार होते हैं।
कुल-दे-सेक – ऐसा रास्ता जो एक जगह जाकर बंद हो जाता है।

को नाज़ था। शायद इसीलिए मीर तकी मीर ने कहा था, "दिल्ली की सड़कें महज़ सड़कें नहीं हैं। वे तो किसी चित्रकार की एल्बम के पन्ने हैं।"

लेकिन यह भी आदर्श शहर नहीं था। इसके ऐशो-आराम भी सिर्फ़ कुछ लोगों के हिस्से में आते थे। अमीर और गरीब के बीच फ़ासला बहुत गहरा था। हवेलियों के बीच गरीबों के असंख्य कच्चे मकान होते थे। शायरी और नृत्य संगीत की रंग-बिरंगी दुनिया आमतौर पर सिर्फ़ मर्दों के मनोरंजन का साधन थी। त्योहारों और जलसे-जुलूसों में जब-तब टकराव भी फूट पड़ते थे, सो अलग।

***चित्र 4** – दिल्ली स्थित जामा मसजिद का पूर्वी दरवाज़ा, टॉमस डेनियल का चित्र, 1795.*
मीनारों और पूरे गुंबदों वाली यह भारत की पहली मसजिद है।

***चित्र 5** – दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह।*

स्रोत 1

> *"दिल्ली जो एक शहर था आलम में इंतख़ाब..."*
>
> 1739 तक दिल्ली नादिर शाह के हाथों तबाही और लूट-खसोट का सामना कर चुकी थी। शहर के पतन पर दुख भरे लहज़े में अठारहवीं सदी के उर्दू शायर मीर तक़ी मीर कहते हैं :
>
> दिल्ली जो एक शहर था
> आलम में इंतख़ाब
>
> हम रहने वाले हैं उसी
> उजड़े दयार के।
>
> (मैं उसी उजड़ी हुई दिल्ली का रहने वाला हूँ जो एक ज़माने में दुनिया का सबसे भव्य शहर थी)।

नयी दिल्ली का निर्माण

1803 में अंग्रेज़ों ने मराठों को हराकर दिल्ली पर नियंत्रण हासिल कर लिया था। क्योंकि ब्रिटिश भारत की राजधानी कलकत्ता थी इसलिए मुग़ल बादशाह को लाल क़िले के महल में रहने की छूट मिली हुई थी। आज हमारे सामने जो आधुनिक शहर दिखाई देता है यह 1911 में तब बनना शुरू हुआ जब दिल्ली ब्रिटिश भारत की राजधानी बन गयी।

एक अतीत का ध्वंस

1857 से पहले दिल्ली के हालात दूसरे औपनिवेशिक शहरों से काफी अलग थे। मद्रास, बम्बई या कलकत्ता में भारतीयों और अंग्रेज़ों की बस्तियाँ अलग-अलग होती थीं। भारतीय लोग "काले" इलाकों में और अंग्रेज़ लोग

गुलफ़रोशान – फूलों का त्योहार।

पुनर्जागरण – इसका शाब्दिक अर्थ होता है कला और ज्ञान का पुनर्जन्म। यह शब्द ऐसे दौर के लिए इस्तेमाल होता है जब बहुत बड़े पैमाने पर रचनात्मक गतिविधियाँ होती हैं।

सुसज्जित "गोरे" इलाकों में रहते थे। दिल्ली में ऐसा नहीं था। ख़ासतौर से उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में दिल्ली के अंग्रेज़ भी पुराना शहर के भीतर अमीर हिंदुस्तानियों के साथ ही रहा करते थे। वे भी उर्दू/फ़ारसी संस्कृति व शायरी का मज़ा लेते थे और स्थानीय त्योहारों में हिस्सेदारी करते थे।

1824 में दिल्ली कॉलेज की स्थापना हुई जिसकी शुरूआत अठारहवीं सदी में मदरसे के रूप में हुई थी। इस संस्था ने विज्ञान और मानवशास्त्र के क्षेत्र में एक नए युग का सूत्रपात कर दिया। यहाँ मुख्य रूप से उर्दू भाषा में काम होता था। बहुत सारे लोग 1830 से 1857 की अवधि को दिल्ली **पुनर्जागरण** काल बताते हैं।

1857 के बाद यह सब कुछ बदल गया। उस साल हुए विद्रोह के दौरान विद्रोहियों ने बहादुर शाह ज़फ़र को विद्रोह का नेतृत्व सँभालने के लिए मजबूर कर दिया। चार महीने तक दिल्ली विद्रोहियों के नियंत्रण में रही।

चित्र 6 – ब्रिटिश टुकड़ियाँ दिल्ली की सड़कों पर विद्रोहियों का क़त्लेआम करके बदला ले रही हैं।

स्रोत 2

"कभी इस नाम का भी एक शहर हुआ है"

दिल्ली में आ रहे बदलावों पर ग़ालिब गहरे तौर पर दुखी थे। उन्होंने दिल्ली के अतीत पर लिखा था :

> क्या लिखूँ? दिल्ली की ज़िंदगी तो किले, चाँदनी चौक, यमुना के पुल पर जमने वाले चौकड़ियों और सलाना **गुलफ़रोशान** से धड़कती है। जब ये सारी चीज़ें .... ही यहाँ नहीं हैं तो दिल्ली ज़िंदा कैसे रह सकती है? हाँ हिंदुस्तान में कभी इस नाम का भी शहर हुआ तो ज़रूर है।

जब अंग्रेज़ों ने शहर पर दोबारा नियंत्रण हासिल किया तो वे बदले और लूटपाट की मुहिम पर निकल पड़े। प्रसिद्ध शायर गालिब उदास मन से इन घटनाओं को देख रहे थे। 1857 में दिल्ली की तबाही को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया, "जब गुस्साए शेर (अंग्रेज़) शहर में दाखिल हुए तो उन्होंने बेसहारों को मारा.... घर जला डाले। न जाने कितने औरत-मर्द, आम और ख़ास, तीन दरवाज़ों से दिल्ली से भाग खड़े हुए और उन्होंने छोटे-छोटे समुदायों तथा शहर के बाहर मक़बरों में पनाह ली।" अगली बग़ावतों को रोकने के लिए अंग्रेज़ों ने बहादुर शाह ज़फ़र को देश से निकाल दिया। अंग्रेज़ों ने उन्हें बर्मा (अब म्याँमार) भेज दिया, उनका दरबार बंद कर दिया, कई महल गिरा दिए, बागों को बंद कर दिया और उनकी जगह अपने सैनिकों के लिए बैरकें बना दीं।

अंग्रेज़ दिल्ली के मुग़ल अतीत को पूरी तरह भुला देना चाहते थे। क़िले

चित्र 7 – जामा मसजिद से देखने पर। फेलिस बिएतो द्वारा लिया गया फोटो, 1858–59.

मसजिद के चारों तरफ़ बनी इमारतों को देखें। 1857 की बग़ावत के बाद उन्हें साफ़ कर दिया गया था।

के इर्द–गिर्द का सारा इलाका साफ कर दिया गया। वहाँ के बाग, मैदान और मसजिदें नष्ट कर दिए गए (उन्होंने मंदिरों को नहीं तोड़ा)। अंग्रेज़ आसपास के इलाके को सुरक्षित करना चाहते थे। ख़ासतौर से मसजिदों को या तो नष्ट कर दिया गया या उन्हें अन्य कामों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा। मिसाल के तौर पर, ज़ीनत–अल–मसजिद को एक बेकरी में तब्दील कर दिया गया। जामा मसजिद में पाँच साल तक किसी को नमाज़ की इजाज़त नहीं मिली। शहर का एक–तिहाई हिस्सा ढहा दिया गया। नहरों को पाटकर समतल कर दिया गया।

रेलवे की स्थापना करने और शहर को चारदीवारी के बाहर फैलाने के लिए 1870 के दशक में शाहजहाँनाबाद की पश्चिमी दीवारों को तोड़ दिया गया। अब अंग्रेज़ उत्तर की तरफ विकसित हुए विशाल सिविल लाइंस इलाके में रहने लगे। अब वे पुराने शहर में भारतीयों के साथ नहीं रहते थे। दिल्ली कॉलेज को एक स्कूल बना दिया गया और 1877 में उसे बंद कर दिया गया।

***चित्र 8** – आस पास की इमारतों को गिरा देने के बाद जामा मसजिद का दृश्य।*

गतिविधि

चित्र 7 और 8 की तुलना करें। इन चित्रों में जो फ़र्क दिखाई देता है उससे यहाँ रहने वाले लोगों पर क्या असर पड़े होंगे?

एक नयी राजधानी की योजना

अंग्रेज़ों को दिल्ली के सांकेतिक महत्व का अच्छी तरह पता था। लिहाज़ा, 1857 की बग़ावत के बाद उन्होंने यहाँ बहुत सारे शानदार आयोजन किए। 1877 में वायसरॉय लिटन ने रानी विक्टोरिया को भारत की मलिका घोषित करने के लिए एक दरबार का आयोजन किया। वैसे तो ब्रिटिश भारत की राजधानी अभी भी कलकत्ता ही थी लेकिन इस विशाल दरबार का आयोजन दिल्ली में किया गया। इसकी क्या वजह रही होगी? विद्रोह के दौरान अंग्रेज़ों ने यह समझ लिया था कि लोगों की नज़र में मुग़ल बादशाह का महत्व अभी भी बना हुआ है और वे उसे ही अपना मुखिया मानते हैं। लिहाज़ा, ब्रिटिश सत्ता का मुग़ल बादशाहों और 1857 के बाग़ियों के मुख्य केंद्र में पूरी तड़क-भड़क के साथ प्रदर्शन किया गया।

चित्र 9 - जॉर्ज पंचम का राज्याभिषेक (कॉरोनेशन) दरबार, 12 दिसंबर 1911.
इस दरबार में 1,00,000 से ज़्यादा भारतीय राजा-महाराजा, अंग्रेज़ अफ़सर और सिपाही जमा हुए थे।

1911 में जब जॉर्ज पंचम को इंग्लैंड का राजा बनाया गया तो इस मौके पर दिल्ली में एक और दरबार का आयोजन हुआ। कलकत्ता की बजाय दिल्ली को भारत की राजधानी बनाने के फैसले का भी इसी दरबार में ऐलान किया गया।

तत्कालीन शहर के दक्षिण में रायसीना पहाड़ी पर दस वर्ग मील के इलाके में नयी दिल्ली का निर्माण किया गया। एडवर्ड लटयंस और हर्बर्ट बेकर नाम के दो वास्तुकारों को नयी दिल्ली और उसकी इमारतों का डिज़ाइन तैयार करने का जिम्मा सौंपा गया। नयी दिल्ली स्थित सरकारी

चित्र 10 - रायसीना पहाड़ी के ऊपर स्थित वायसरीगल पैलेस (राष्ट्रपति भवन)।
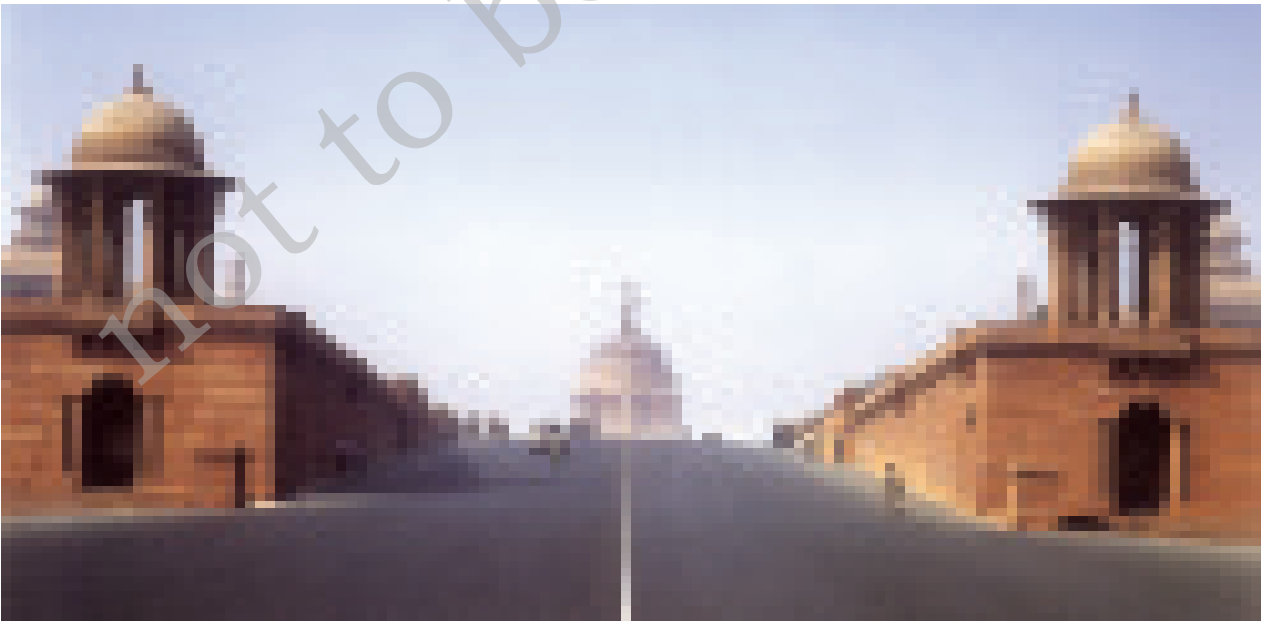
परिसर में दो मील का चौड़ा रास्ता, वायसरॉय के महल (वर्तमान राष्ट्रपति भवन) तक जाने वाला किंग्सवे (वर्तमान राजपथ), और उसके दोनों तरफ सचिवालय की इमारतें बनाई गईं। इन सरकारी इमारतों की बनावट में भारत के शाही इतिहास के अलग-अलग दौर की झलक दिखायी देती थी। फिर भी इसका रूप मोटे तौर पर क्लासिकी यूनान (पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व) का दिखाई देता था। उदाहरण के लिए, वायसरॉय पैलेस का केंद्रीय गुंबद साँची में बने बौद्ध स्तूप की बनावट पर आधारित था। लाल भुरभुरे पत्थर और नक़्क़ाशीदार जालियों की प्रेरणा मुग़ल वास्तुशिल्प से ली गई थी। लेकिन नयी इमारतों में ब्रिटिश प्रभुत्व की झलक भी ज़रूरी थी। इसीलिए वास्तुकारों ने इस बात का खयाल रखा कि वायसरॉय का महल शाहजहाँ की जामा मसजिद से भी ऊँचा हो!

यह काम कैसे किया जा सकता था?

नयी दिल्ली के निर्माण में लगभग 20 साल लगे। इरादा एक ऐसा शहर बनाने का था जो शाहजहाँनाबाद के मुक़ाबले बिलकुल अलग हो। उसमें भीड़ भरे मोहल्लों और संकरी गलियों के लिए कोई जगह नहीं थी। नयी दिल्ली में चौड़ी, सीधी सड़कों और विशाल परिसरों के बीच बड़ी-बड़ी इमारतों की कल्पना की गई थी। पुरानी दिल्ली में अफ़रा-तफ़री दिखाई देती थी। नया शहर स्वच्छ और स्वस्थ दिखाई पड़ता था। अंग्रेज़ों को भीड़ भरे इलाके गंदे और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बीमारियों का स्रोत दिखाई देते थे। इसीलिए नयी दिल्ली में बेहतर जलापूर्ति, गंदगी के निकास और नालियों की पूरी व्यवस्था तैयार की गई। उसे ज़्यादा हरा-भरा बनाया गया। वहाँ पेड़ और बड़े-बड़े पार्क बनाए गए ताकि लगातार ताज़ी हवा और ऑक्सीजन मिलती रहे।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप राष्ट्रपति भवन की ओर देखते हुए रायसीना हिल की ओर बढ़ रहे हैं। क्या बेकर की तरह आपको भी ऐसा लगता है कि इस इमारत की ओर देखने से भव्यता और ब्रिटिश सत्ता की ताकत का बोध होता है।

स्रोत 3

नयी दिल्ली की कल्पना

दिल्ली को राजधानी के रूप में चुनने के पीछे वायसरॉय हार्डिंग ने यह वजह बताई थी :

> यह बदलाव भारत के लोगों की कल्पना के अनुरूप होगा.... और सभी लोग भारत में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने के अदम्य संकल्प के रूप में इसकी सराहना करेंगे।

वास्तुकार हर्बर्ट बेकर की राय में :

> नयी राजधानी अच्छे शासन और एकजुटता का पाषाण प्रतीक होनी चाहिए जो ब्रिटिश शासन के तहत भारत के इतिहास में एक नयी बात है। भारत में ब्रिटिश शासन केवल शासन और संस्कृति की एक परत भर नहीं है। यह एक पनपती हुई नयी सभ्यता है, इसमें पूर्व और पश्चिम के श्रेष्ठ तत्वों का मिश्रण है...। दिल्ली के वास्तुशिल्प में इस महान तथ्य की झलक मिलनी चाहिए। (2 अक्टूबर 1912)

गतिविधि

क्या आप इस अध्याय में ऐसे दो उदाहरण ढूँढ़ सकते हैं जिनसे पता चलता है कि राजधानी की छवि के बारे में कोई भिन्न तरह की सोच भी मौजूद थी।

विभाजन के समय जीवन

1947 में भारत के विभाजन से नयी सीमा के दोनों तरफ आबादी बड़ी तादाद में विस्थापित हुई। इसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली की आबादी बढ़ गई। रोज़गार बदल गए और शहर की संस्कृति बिलकुल भिन्न हो गई।

स्वतंत्रता और विभाजन के कुछ ही दिनों बाद भीषण दंगे शुरू हो गए। दिल्ली में हज़ारों लोग मारे गए और उनके घर-बार लूटकर जला दिए गए। दिल्ली से पाकिस्तान जाने वाले मुसलमानों की जगह पाकिस्तान से आए सिख और हिंदू शरणार्थियों ने ले ली। शाहजहाँनाबाद में लावारिस मकानों पर कब्ज़े के लिए शरणार्थियों के झुंड घूमने लगे। कई बार उन्होंने मुसलमानों को भाग जाने और अपनी संपत्ति बेचने के लिए मज़बूर भी किया। दिल्ली के दो-तिहाई मुसलमान पलायन कर गए थे जिससे लगभग 44,000 मकान खाली हो गए। बहुत सारे मुसलमान पाकिस्तान जाने के इंतज़ार में कामचलाऊ शिविरों में रहने लगे।

उस समय दिल्ली शरणार्थियों का शहर बन गई थी। दिल्ली की आबादी में लगभग पाँच लाख की वृद्धि हो गई (जबकि 1951 में यहाँ की आबादी 8 लाख से कुछ ही ज़्यादा थी)। ज़्यादातर लोग पंजाब से आए थे। वे शिविरों, स्कूलों, फ़ौजी बैरकों और बाग-बगीचों में आकर रहने लगे। उनमें से कुछ को खाली पड़े मकानों पर कब्ज़े का मौका मिल गया। बहुत सारे लोग शरणार्थी बस्तियों में रहने लगे। लाजपत नगर और तिलक नगर जैसी बस्तियाँ इसी समय बसी थीं। दिल्ली में आने वालों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए दुकान और स्टॉल खुल गए। कई नए स्कूल और कॉलेज भी खोल दिए गए।

जो लोग यहाँ से गए थे उनकी जगह आए शरणार्थियों की निपुणता और काम-धंधे बिलकुल अलग थे। पाकिस्तान जाने वाले बहुत सारे मुसलमान कारीगर, छोटे-मोटे व्यापारी और मज़दूर थे। दिल्ली आए नए लोग ग्रामीण भूस्वामी, वकील, शिक्षक, व्यापारी और छोटे दुकानदार थे। विभाजन ने उनकी ज़िंदगी और उनके व्यवसाय बदल दिए थे। फेरीवालों, पटरीवालों, बढ़ई और लुहारों के तौर पर उन्होंने नए रोज़गार अपनाए। इनमें से बहुत सारे नए व्यवसायों में काफ़ी सफल भी रहे।

चित्र 11 - विभाजन के बाद हज़ारों लोग दिल्ली में बने शरणार्थी शिविरों में रहने लगे थे।

पंजाब से आई विशाल टोलियों ने दिल्ली का सामाजिक परिवेश पूरी तरह बदल दिया। भोजन, पहनावे और कला के हर क्षेत्र में मुख्य रूप से उर्दू पर आधारित शहरी संस्कृति नयी रुचियों और संवेदनशीलता के नीचे दब गई।

पुराने शहर के भीतर

इस बीच पुराने शहर यानी शाहजहाँनाबाद का क्या हुआ? अतीत में मुग़लों के जमाने की प्रसिद्ध नहरों से घरों में न केवल पीने का ताज़ा पानी आता था बल्कि

दूसरी घरेलू ज़रूरतों के लिए भी पानी मिल जाता था। उन्नीसवीं सदी में जलापूर्ति और निकासी की इस बेहतरीन व्यवस्था को नज़रअंदाज़ किया जाने लगा। कुओं (बावड़ी) की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। घरेलू कचरे की निकासी करने वाली धाराएँ भी क्षतिग्रस्त थीं। यह एक ऐसे समय की बात है जब शहर की आबादी लगातार बढ़ रही थी।

टूटी-फूटी नहरें इस तेज़ी से बढ़ती आबादी की ज़रूरत को पूरा नहीं कर सकती थीं। उन्नीसवीं सदी के आखिर में शाहजहाँनी नालियों को बंद कर दिया गया और खुली नालियों की नयी व्यवस्था विकसित की गई। जल्दी ही यह प्रणाली भी बोझ से चरमराने लगी। बहुत सारे अमीर लोगों को सड़क किनारे बहती नालियों और उफनते खुले नालों की बदबू परेशान करती थी। दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी एक अच्छी निकासी व्यवस्था पर पैसा खर्च करने को तैयार नहीं थी।

तथापि, उसी समय नयी दिल्ली के इलाके में निकासी व्यवस्था पर लाखों रुपये खर्च किए गए।

चित्र 12 – दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह के पास बनी एक प्रसिद्ध बावड़ी।

हवेलियों का पतन

सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दियों में मुग़ल कुलीन वर्ग भव्य हवेलियों में रहता था। उन्नीसवीं सदी के मध्य का नक्शा देखने पर ऐसी कम से कम सौ हवेलियाँ दिखाई देती हैं। ये चारदीवारी से घिरे दालान और झरनों वाली भव्य इमारतें थीं।

चित्र 13 – उन्नीसवीं सदी के आखिर में दिल्ली का चाँदनी चौक।

गतिविधि

दो बच्चों की कल्पना कीजिए। उनमें से एक हवेली में रहता है और दूसरा औपनिवेशिक बंगले में। अपने परिवार के साथ उनके संबंधों में क्या फ़र्क होगा? आप कौन से बच्चे की तरह जीना पसंद करेंगे? अपने सहपाठियों के साथ अपनी राय पर चर्चा करें और बताएँ कि आपने यह चुनाव क्यों किया?

एक हवेली में बहुत सारे परिवार रहते थे। खूबसूरत फाटक से भीतर जाने पर हवेली के अंदर आप एक खुले अहाते में पहुँच जाते थे। इसके चारों तरफ मेहमानों और कारोबारियों के लिए सार्वजनिक कमरे बने होते थे जिनका सिर्फ़ पुरुष ही इस्तेमाल करते थे। भीतरी दालान और कमरे परिवार की औरतों के लिए होते थे। हवेली के कमरों का कई कामों के लिए इस्तेमाल होता था। उनमें फ़र्नीचर बहुत कम होता था।

यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भी क़मर-अल-दीन ख़ान की हवेली में कई इमारतें थीं। उनमें गाड़ीवानों, तम्बू लगाने वालों (डेरवाल), मशालची, खातेदारों, क्लर्कों, घरेलू नौकरों के रहने का इंतज़ाम था।

बहुत सारे मुग़ल अमीर ब्रिटिश शासन के समय इन विशालकाय इमारतों को सँभालने की हालत में नहीं थे। फलस्वरूप, हवेलियाँ बँटने लगीं। उनके हिस्सों को बेचा जाने लगा। हवेलियों के जो हिस्से सड़क पर खुलते थे वहाँ दुकानें या गोदाम बन गए। कुछ हवेलियाँ नए उभरते व्यवसायी वर्ग के नियंत्रण में चली गईं। बहुत सारी उपयोग में न होने के कारण बेकार हो गईं।

अमीर – कुलीन वर्ग का व्यक्ति

औपनिवेशिक बंगले इन हवेलियों से बिलकुल अलग थे। ये बंगले एकल परिवारों के लिए बनाए गए थे। इसलिए उनमें एक मंज़िल की ढलवाँ छत वाली इमारत होती थी। ये बंगले आमतौर पर एक या दो एकड़ के खुले स्थान पर बने होते थे। इनमें रहने, खाने और सोने के कमरे अलग थे। अगले हिस्से में एक लंबा बरामदा होता था। कई बंगलों में तीन तरफ़ बरामदा बनाया जाता था। रसोई घर, अस्तबल और नौकरों के क्वार्टर मुख्य मकान से अलग बनाए जाते थे। घर की देखभाल के लिए दर्जनों नौकर होते थे। परिवार की औरतें अकसर दर्ज़ियों या अन्य कारीगरों पर नज़र रखने के लिए बरामदे में बैठती थीं।

नगरपालिका योजना बनाती है

1931 की जनगणना से पता चला कि पुराने शहर के इलाके में भयानक भीड़ हैं। यहाँ प्रति एकड़ 90 लोग रहते थे जबकि नयी दिल्ली में प्रति एकड़ केवल 3 लोगों का औसत था।

चित्र 14 – नयी दिल्ली का एक औपनिवेशिक बंगला।
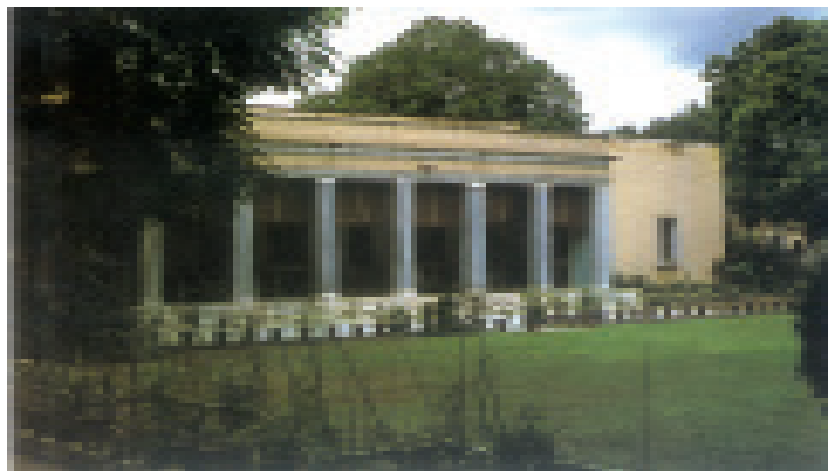
पुराने शहर के बिगड़ते हालात के बावजूद उसका फैलना जारी रहा। पुराने शहर के निवासियों के लिए रॉबर्ट क्लार्क ने 1888 में लाहौर गेट सुधार योजना के नाम से एक विस्तार योजना तैयार की। इसके पीछे सोच यह थी कि यहाँ के निवासियों को पुराने शहर से अलग एक नए तरह के चौराहा बाज़ार की तरफ ढकेला जाए। इस चौराहे पर चारों तरफ दुकानों की कल्पना की गई थी। इस पुनर्विकास में सड़कों के लिए जाल वाली संरचना तय की गई। सभी सड़कों की चौड़ाई, आकार और स्वरूप एक जैसा होना था। मोहल्लों के निर्माण के लिए ज़मीन को एक जैसे टुकड़ों में बाँट दिया गया था। इस नए स्थान को क्लार्कगंज का नाम दिया गया। यह कभी पूरा नहीं हो पाया और उसने पुराने शहर को भीड़ से आज़ाद कराने में कोई मदद नहीं की। यहाँ तक कि 1912 में भी इन नए स्थानों पर जलापूर्ति और निकासी की व्यवस्था बहुत खराब थी।

चित्र 15 – पुरानी दिल्ली की एक सड़क।

दिल्ली सुधार ट्रस्ट का गठन 1936 में किया गया। इस योजना के तहत संपन्न लोगों के लिए दरियागंज दक्षिण जैसे इलाके बनाए गए। यहाँ पार्कों के इर्द-गिर्द रिहायशी मकान बने। मकानों के भीतर निजता की नयी सोच के हिसाब से जगह बँटी हुई थी। अब बहुत सारे परिवार या समूह साझा जगह पर नहीं रहते थे बल्कि मकान के भीतर एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के लिए अलग-अलग जगह होने लगी।

अन्यत्र

दक्षिण अफ़्रीका में हर्बर्ट बेकर

अगर आप चित्र 16 और 17 को देखें तो पाएँगे कि इन दोनों इमारतों में भारी समानता है। लेकिन ये दोनों इमारतें बिलकुल अलग-अलग महाद्वीपों की हैं। इस बात से क्या पता चलता है?

चित्र 16
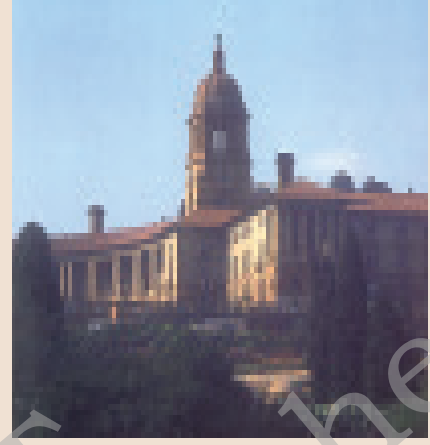
चित्र 17

1890 के दशक की शुरुआत में हर्बर्ट बेकर नाम का एक युवा अंग्रेज़ वास्तुकार काम की तलाश में दक्षिण अफ़्रीका पहुँचा। यहीं बेकर की मुलाक़ात केपटाउन के गवर्नर सेसिल रोड्स से हुई जिसने बेकर के भीतर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति प्यार और प्राचीन रोमन व यूनानी वास्तुशिल्प के प्रति प्रशंसा का भाव पैदा कर दिया।

चित्र 17 में दक्षिण अफ़्रीका स्थित प्रिटोरिया शहर की यूनियन बिल्डिंग दिखाई दे रही है जिसकी रूपरेखा बेकर ने तैयार की थी। इसमें प्राचीन प्रतिष्ठित वास्तुशिल्प के तत्वों का इस्तेमाल किया गया था जिनका बेकर ने नयी दिल्ली स्थित सचिवालय भवन की योजना में भी इस्तेमाल किया। यूनियन बिल्डिंग भी नयी दिल्ली स्थित सचिवालय भवन (चित्र 16) की तरह एक पहाड़ी पर स्थित थी। क्या आपने ध्यान दिया कि सत्ता में बैठे लोग नीचे से ऊपर की ओर देखने की बजाय ऊपर से नीचे की तरफ़ देखना पसंद करते हैं? यूनियन बिल्डिंग और सचिवालय भवन, दोनों को शाही दफ़्तरों के लिए बनाया गया था।

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप सन् 1700 के आसपास शाहजहाँनाबाद में रहते हैं। इस अध्याय में दिए गए ब्योरों के आधार पर उस जीवन के किसी एक दिन के अपने अनुभव लिखें।

फिर से याद करें

1. सही या गलत बताएँ :

(क) पश्चिमी विश्व में आधुनिक शहर औद्योगीकरण के साथ विकसित हुए।

(ख) सूरत और मछलीपट्नम का उन्नीसवीं शताब्दी में विकास हुआ।

(ग) बीसवीं शताब्दी में भारत की ज़्यादातर आबादी शहरों में रहती थी।

(घ) 1857 के बाद जामा मसजिद में पाँच साल तक नमाज़ नहीं हुई।

(ङ) नयी दिल्ली के मुक़ाबले पुरानी दिल्ली की साफ़-सफ़ाई पर ज़्यादा पैसा खर्च किया गया।

2. रिक्त स्थान भरें :

(क) सफलतापूर्वक गुंबद का इस्तेमाल करने वाली पहली इमारत .... थी।

(ख) नयी दिल्ली और शाहजहाँनाबाद की रूपरेखा तय करने वाले दो वास्तुकार .... और .... थे।

(ग) अंग्रेज़ भीड़ भरे स्थानों को .... मानते थे।

(घ) .... के नाम से 1888 में एक विस्तार योजना तैयार की गई।

3. नयी दिल्ली और शाहजहाँनाबाद की नगर योजना में तीन फर्क ढूँढ़ें।

4. मद्रास जैसे शहरों के "गोरे" इलाकों में कौन लोग रहते थे?

आइए विचार करें

5. विशहरीकरण का क्या मतलब है?

6. अंग्रेज़ों ने दिल्ली में ही विशाल दरबार क्यों लगाया जबकि दिल्ली राजधानी नहीं थी।

7. पुराना दिल्ली शहर ब्रिटिश शासन के तहत किस तरह बदलता गया?

8. विभाजन से दिल्ली के जीवन पर क्या असर पड़ा?

आइए करके देखें

9. अपने शहर या आसपास के किसी शहर के इतिहास का पता लगाएँ। देखें कि वह कब और कैसे फैला तथा समय के साथ उसमें क्या बदलाव आए हैं। आप बाज़ारों, इमारतों, सांस्कृतिक संस्थानों और बस्तियों का इतिहास दे सकते हैं।

10. अपने शहर, क़स्बे या गाँव के कम से कम दस व्यवसायों की सूची बनाएँ। पता लगाएँ कि ये व्यवसाय कब से चले आ रहे हैं। इस सूची से इस इलाके में आए बदलावों के बारे में क्या पता चलता है?